श्रीकृष्ण सन्देश
श्री अरविन्द विशेषाङ्क
वर्ष : ८
अंक : १

श्री अरविन्द-वचनामृत

सीधे सहज वढ़े चलो क्यों न कृष्णके पास ।
सहज-भावका अर्थ है आस्था या विश्वास ।।

यदि करते तुम प्रार्थना तो निश्चय लो मान ।
सारी मनकी वात वह सुनते हैं भगवान ।।

उत्तर आनेमें यदि होने लगे विलम्व ।
तो सच मानो जानते सव कुछ जग-अवलम्व ।।

और प्यार करते तुम्हें श्रीहरि विश्वजनीन ।
उचित घड़ीके चयनमें वे हैं परम प्रवीन ।।

तवतक अपना क्षेत्र-गृह करो स्वच्छ तुम झाड़ ।
आयें जव वे तो मिलें नहीं झाड़-झंखाड़ ।।

—'राम'

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

श्री अ र वि न्द - अं क

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

संख्या ●

वर्ष : ८, अङ्क : १

अगस्त, १९७२

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

अनुक्रम

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्द-सुमन

(अगस्त : १९७२)

★

आज प्रात: मैं श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका दर्शन करके कृतार्थ हुआ। मुझे आशा है कि इस स्थानके उत्थानकी जो योजना बनायी गयी है, वह शीघ्र ही सफल होकर पूरी होगी।

नित्यानन्दप्रसाद भटनागर
बिक्रीकर-आयुक्त, आगरा

आज मैंने योगिराज भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमिके दर्शन किये। जिस अतुल आनन्दका आभास हुआ, उसे लिखनेमें मैं अपनेको असमर्थ पाता हूँ।

कैलाशनारायण अग्रवाल
आबकारी-अधीक्षक, मेरठ

आज श्रीकृष्ण-जन्मभूमिका दर्शन किया। यहाँके भगवद्भक्तों तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंका व्यवहार सराहनीय है। यह हमारी भारतीय संस्कृतिका सर्वोत्तम प्रतीक है। यहाँके दर्शनसे भारतीयताकी झांकी मिलती है तथा वास्तविक धर्मके प्रति श्रद्धा एवं विश्वासकी वृद्धि होती है। यहाँके वातावरणमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति रागात्मक और गहन निष्ठाकी अनायास उपलब्धि होती है।

केशवचन्द्र मिश्र
निरीक्षक : राजकीय कार्यालय, आगरा मण्डल
आगरा

यह स्थल पुराने इतिहास तथा भविष्यको जोड़नेवाला है। भावी पीढ़ी इससे इतिहासकी झाँकी पा सकेगी। यह शुद्ध एवं पवित्र बना रहे तथा प्रेरणाका स्रोत हो, यही कामना है।

रामचन्द्र शुक्ल
सदस्य : विधान-परिषद, उत्तर प्रदेश
अध्यक्ष : आश्वासन समिति

I am very much impressed with the excellant and marvellous arrangements made for the comforts of the visitors. Lord Krishna's birthplace is an invaluable monument for all the humanity. This will be the meeting place for people of the world, beyond sectional interests religious considerations and national boundaries. The international visitors will become missionaries for the propagation of the teachings of the Bhagwat Gita said by Lord Krishna. May the Lord bless the people connected with this noble task.

M. Gopal Rao.
Chief Engineer, Salal Project
Government of India
P. O. RIASI, Via. Jammu
(J & K)

I had great pleasure in witnessing the commendable efforts taken to commemorate the place of birth of Lord Krishna. I am sure that the Mandir after completion will be a great source of inspiration of religion, class or creed.

A. S. Mani
Deputy Zonal Manager,
Life Insurance Corporation of India
Jeevan Kendra.
J. Tara Road, Bombay-20

Seeing the cordial atmosphere and the worthy dealings of the staff with the visitors, I was much impressed. I have never seen such a good a arrangement and proper dealings at any other religious place throughout India. The Pratima of Bhagwan Krishna is very lovely and the management of the temple, Bhagwat Bhawan and the International Guesthouse is very admirable. It is a primary duty of each and every Hindu to pay full co-operation with the developments of this trust. I wish for the best future of this holy historic birthplace.

Premchand Sharma.
EX. Consolidation officer,
Bulandshahar.

देशभरमें जिनकी जन्मशती मनायी जा रही है
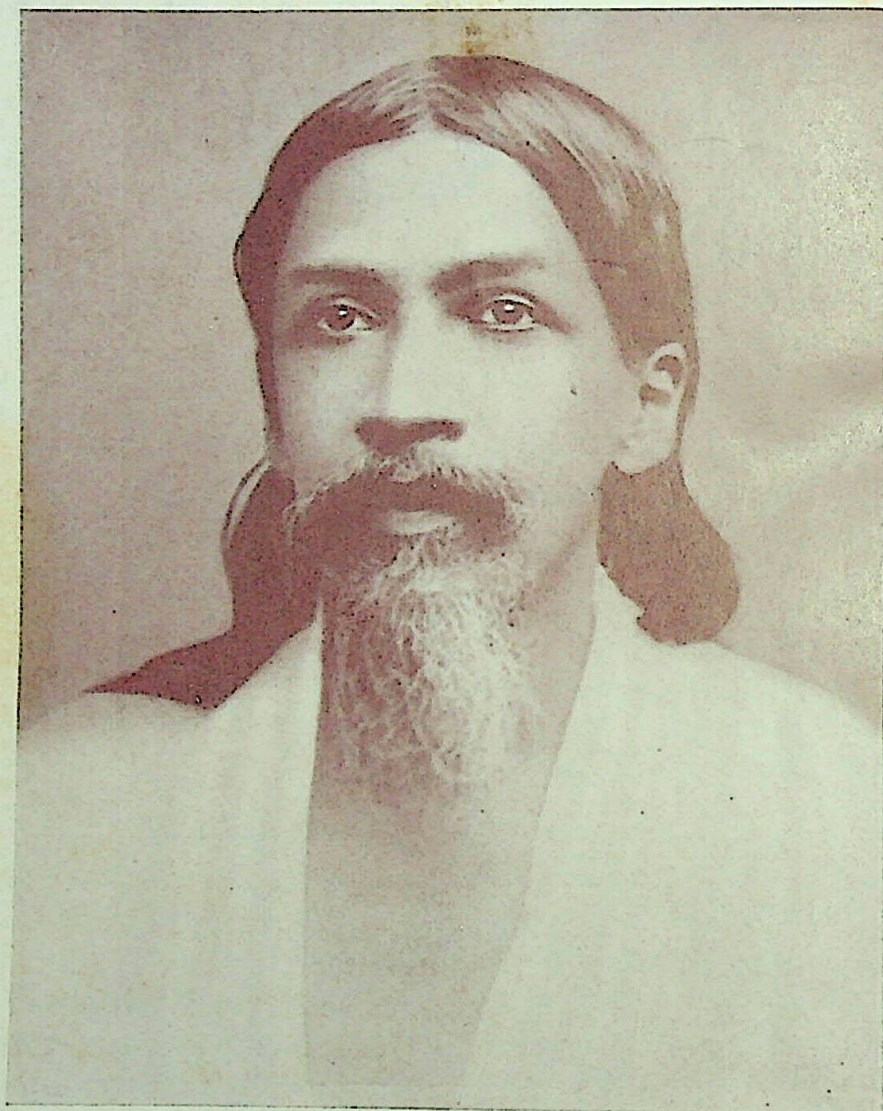
योगिराज श्री अरविन्द

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

वर्ष : ८] मथुरा, अगस्त १९७२ [अङ्क : १

श्रीकृष्णकी गीताका सन्देश

[श्री अरविन्दकी भाषामें]

"अपनी प्राकृत सत्तामें मनुष्य प्रकृतिका सात्त्विक, राजसिक या तामसिक प्राणी होता है। इसका जो कोई भी गुण उसमें प्रधान होता है, उसीके अनुसार वह अपने जीवन और कर्मका यह या वह विधान बना लेता है तथा उसका अनुसरण करता है। उसका तामसिक, स्थूल-भौतिक, इन्द्रियप्रवण मन तम, भय और अज्ञानके वश कुछ तो अपनी परिस्थितिके दबावके अनुसार चलता है और कुछ अपनी कामनाओंके आकस्मिक आवेगोंके अनुसार या फिर वह जड़-रूढ़िग्रस्त बुद्धिकी अभ्यस्त दिनचर्याका ही आश्रय ग्रहण करता है। कामनाका पुतला राजसिक मन इस जगत्के साथ, जिसमें वह रहता है, संघर्ष करता रहता है और नित नयी-नयी चीजें प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। नेतृत्व करने, युद्ध करने, विजय पाने, निर्माण करने, विनाश करने और संग्रह करनेका यत्न करता रहता है। वह सदा सिद्धि और असिद्धि, हर्ष और शोक, आशा और निराशाके बीच धक्के खाता आगे बढ़ा करता है। वह चाहे जो भी नियम स्वीकार करता हुआ दिखायी दे, पर असलमें वह सभी चीजोंमें निम्न 'स्व' और 'अहं'के नियमका अर्थात् मनके आसुरी और राक्षसी प्रकृतिके चंचल, अश्रांत, स्व-भक्षी और सर्वभक्षी नियमोंका ही अनुसरण करता है।

"सात्त्विक बुद्धि इस अवस्थाको कुछ पार कर जाती है। वह देखती है कि कामना और अहंके विधानसे श्रेष्ठ किसी अन्य विधानका अनुसरण करना चाहिए। वह एक सामाजिक,

नैतिक, धार्मिक नियमकी; एक धर्म एवं शास्त्रकी स्थापना करती है तथा उसे अपने ऊपर लागू करती है। मनुष्यका साधारण मन बस इतनी ऊँचाईतक ही जा सकता है। अर्थात् वह मन और इच्छाशक्तिके मार्ग-निर्देशके लिए एक आदर्शकी या एक व्यावहारिक नियमकी स्थापना कर सकता है और फिर जीवन और कार्य-व्यवहारमें यथासम्भव सचाईके साथ उसका पालन भी कर सकता है। इस सात्त्विक बुद्धिका विकास उसके चरम बिन्दुतक करना चाहिए, जहाँ वह अहमात्मक प्रेरणाके मिश्रणका पूर्णतया परित्याग करनेमें सफल हो जाती है और धर्मका पालन धर्मके लिए, एक निर्वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक या धार्मिक आदर्शके रूपमें करती है। केवल उसके औचित्यके कारण ही निष्कामभावसे करने योग्य कर्मके रूपमें **कर्तव्य कर्म**के रूपमें उसका अनुसरण करती है।

"किन्तु, प्रकृतिके इन समस्त कर्मोंका वास्तविक सत्य बहुत ही कम अंशमें एक बाह्य मानसिक सत्य है। अधिकांशमें तो वह एक आभ्यंतरिक एवं विषयिगत सत्य ही है। वह यह है कि मनुष्य एक देहधारी जीव है, जो भौतिक और मानसिक प्रकृतिमें आबद्ध है, इसमें वह अपने विकासके एक प्रगतिशील नियमका अनुसरण करता है। यह नियम उसकी सत्ताके आन्तरिक विधानसे ही निर्धारित होता है। उसकी अन्तरात्माका स्वरूप ही उसके मन और प्राणके स्वरूपका, अर्थात् उसके स्वभावका गठन करता है। प्रत्येक मनुष्यका अपना स्वधर्म होता है, अर्थात् उसकी अन्तःसत्ताका एक विधान होता है जिसका उसे पालन करना चाहिए, अनुसन्धान और अनुसरण करना चाहिए। उसकी आभ्यन्तरिक प्रकृति द्वारा निर्धारित कर्म ही उसका वास्तविक धर्म है। उसके अनुसार चलना ही उसके विकासका सच्चा नियम है। उससे च्युत होनेका मतलब है संकर, गतिरोध और प्रमादको उत्पन्न करना। उसके लिए सदैव वही सामाजिक, नैतिक, धार्मिक या कोई अन्य विधान एवं आदर्श सर्वश्रेष्ठ है जो उसे स्वधर्मका पालन और अनुसरण करनेमें सहायता पहुँचाये।

"तथापि यह समस्त कर्म अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें भी मनके अज्ञान और त्रिगुणके खेलके अधीन है। जब मनुष्य अपनी अन्तरात्माको पा लेता है, केवल तभी वह अज्ञानको तथा गुणोंके संकरको पारकर एकता तथा अपनी चेतनाएँ भी मिटा सकता है। यह सच है कि जब तुम अपने आपको प्राप्त कर लोगे तथा अपनी आत्मामें निवास करने लगोगे, तब भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी लीकपर ही चलती रहेगी कुछ कालतक वह अपने निम्नतर गुणोंके अनुसार ही कार्य करेगी। फिर भी तब तुम उस कर्मका अनुष्ठान पूर्ण आत्म-ज्ञानके साथ कर सकोगे। उसे अपनी सत्ताके स्वामीके प्रति एक यज्ञके रूपमें परिणत कर सकोगे। अतएव अपने स्वधर्मके विधानका पालन करो। तुम्हारा स्वभाव तुमसे जिस कर्मकी माँग करे वही तुम करो, फिर वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। अहंभावकी समस्त प्रेरणाका, स्वेच्छा द्वारा प्रवर्तित समस्त आरम्भ, और कामनाके समस्त नियम-शासन त्याग दो, जिससे अन्तमें तुम अपने-आपको पूर्णरूपसे अपनी सत्ताके सब भावोंके साथ परमदेवके प्रति अर्पित कर सको।

"जब एकबार तुम सच्चे भावसे ऐसा आत्म-समर्पण करनेमें समर्थ हो जाओगे तो उस क्षण बिना किसी अपवादके अपने सभी कर्मोंकी बागडोर अपने अन्तरस्थ परमेश्वरके हाथोंमें

सौंप सकोगे। तव तुम आचार-व्यवहारके सव नियमोंसे छुटकारा पा जाओगे, समस्त धर्मोंसे मुक्त हो जाओगे। तुम्हारे अन्दर अवस्थित भागवती शक्ति एवं उपस्थिति तुम्हें पाप और अशुभसे मुक्त कर देगी और पुण्यके मानवीय मापदण्डोंसे वहुत ऊपर उठा ले जायगी। कारण, तव तुम आध्यात्मिक सत्ता और दैवी प्रकृतिके पूर्ण और स्वतःस्फूर्त ऋत और पावित्र्यमें निवास करोगे और उसीमें रहते हुए अपने कर्म करोगे। तब तुम नहीं, वरन् भगवान् ही तुम्हारे द्वारा अपना संकल्प और अपने कर्म सम्पन्न करेंगे। यह काम वे तुम्हारे निम्न व्यक्तिगत सुख और कामनाके लिए नहीं, बल्कि जागतिक उद्देश्यके लिए तथा तुम्हारे दिव्य मङ्गल और सवके प्रकट या प्रच्छन्न मङ्गलके लिए करेंगे। प्रकाशसे परिप्लावित होकर तुम जगत्में और काल-पुरुषके कार्योंमें भगवान्का ही रूप देखोगे, उनका प्रयोजन जान जाओगे और उनका आदेश श्रवण करोगे। तुम्हारी प्रकृति एक यन्त्रके रूपमें केवल उन्हींकी इच्छाको ग्रहण करेगी। वह चाहे कुछ हो, विना ननु-नचके पूरा करेगी। क्योंकि तुम्हें अपनी प्रत्येक कर्म-प्रेरणाके साथ अपने ऊपर और अन्दरसे एक अटल ज्ञान प्राप्त होगा और उसके साथ ही प्राप्त होगी, उस दिव्य प्रज्ञा और उसके मर्मके प्रति सज्ञान सहमति। युद्ध उन्हींका होगा, विजय भी उन्हींकी और साम्राज्य भी उन्हींका!

"यही इस जगत् और इस देहमें तुम्हारी परम सिद्धि होगी, इस नश्वर जन्मवाले लोकोंके परे तुम्हें परमोच्च शाश्वत अतिचेतना उपलब्ध होगी और तुम सदा-सर्वदा परमात्माके परम पदमें निवास करोगे। पूर्वजन्मका चक्र और मृत्युका भय तुम्हें नहीं सतायेंगे; क्योंकि यहीं इसी जीवनमें तुम भगवान्की अभिव्यक्ति करनेका कार्य पूरा कर चुके होगे। यद्यपि तुम्हारी अन्तरात्मा मन और शरीरमें उतरी रहेगी, फिर भी तव वह परमात्माकी विशाल सनातन सत्तामें ही निवास कर रही होगी।

'अतएव यही परम साधना है। यही तुम्हारी समस्त सत्ता एवं प्रकृतिकी पूर्ण शरणागति है। यही अपने परम आत्मस्वरूप भगवान्में सव धर्मोंका संन्यास है। यही परम अध्यात्म-प्रकृतिके प्रति तुम्हारे सभी अङ्गोंकी अनन्य अभीप्सा है। यदि एकबार तुम इसे प्राप्त कर सको—चाहे मार्गके आरम्भमें ही या बहुत दूर जाकर—तो अपनी वाह्य प्रकृतिमें तुम जो कुछ भी हो या जो कुछ भी थे, तुम्हारा पथ सुनिश्चित है और तुम्हारी सिद्धि अवश्यंभावी है। तुम्हारे अन्दर जो परम पुरुष विराजमान हैं, वे तुम्हारी योग-साधना अपने हाथमें ले लेंगे और उसे तुम्हारे स्वभावके अनुकूल मार्गोंसे वेगपूर्वक चरम परिपूर्णताकी ओर ले जायेंगे। उसके वाद तुम्हारी जीवनधारा और कर्म-पद्धति कुछ भी क्यों न हो, तुम सचेतन रूपसे उन्हींमें निवास, कर्म और विचरण कर रहे होंगे। तव तुम्हारी अन्दर और वाहरकी प्रत्येक चेष्टामें भागवती शक्ति ही तुम्हारे द्वारा कार्य करेगी। यह परमोत्तम पथ है, क्योंकि यह सर्वोच्च गुह्य और रहस्य है। फिर भी यह एक आन्तरिक साधना है जिसे सब कोई उत्तरोत्तर सम्पन्न कर सकते हैं। यही तुम्हारी वास्तविक सत्ताका, तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ताका गभीरतम और अन्तरतम सत्य है।

—'गीता-प्रबन्ध'से।

श्री अरविन्द-अङ्कके सम्बन्धमें

इस वर्ष सारे भारतमें श्री अरविन्द-जन्म-शताब्दी महोत्सव मनाया जा रहा है। भारत-सरकारने भी इसे मनानेका विचार व्यक्त किया है। वास्तवमें ऐसे महा-मनीषी महात्माओंके पावन स्मरण तथा यशोगानसे अन्तःकरण पवित्र होता है और उनके उपदेशोंके अनुसार साधनाके दिव्यपथपर चलनेकी प्रवल प्रेरणा प्राप्त होती है। योगिराज श्री अरविन्द हमारे युगके महामहिम महर्षि रहे हैं। भारतवर्षके सत्य-द्रष्टा ऋषियोंमें उनका स्थान अत्यन्त उच्च और चिरस्मरणीय रहेगा। पुरातन कालसे हमारे देशमें साधनाका लक्ष्य व्यक्तिगत रूपसे आत्मोन्नयन या स्वयंका मोक्ष-लाभ रहा है। श्री अरविन्दने भगवच्चैतन्यके समष्टिगत अवतरणकी जो दिशा दिखायी है, वह वहुत ही आशाजनक तथा मङ्गलमय भविष्यकी संयोजना करनेवाली है। उनके वाङ्मयके अध्ययनसे पूर्णयोगपर आस्था बढ़ती है और उनकी सफलताका विश्वास दृढ़ होता है। अतः इस बातकी आवश्यकता है कि श्री अरविन्दके अखिल साहित्यका अधिकसे-अधिक लोगों द्वारा सम्यक् अध्ययन, अनुशीलन एवं उनके उपदेशोंको जीवनमें उतारनेका अनवरत प्रयास हो। इसी दृष्टिसे इस वर्ष 'श्रीकृष्ण-संदेश'का श्री 'अरविन्द-अङ्क' निकालनेका निश्चय किया गया। श्री अरविन्द श्रीकृष्णके महान् भक्त थे और उन्होंने अपने जीवनमें श्रीकृष्णका साक्षात्कार करके उन्हें संपूर्णतया आत्मसमर्पण किया था। यह उन्हींके लेखोंसे प्रमाणित है। इस दृष्टिसे भी 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के इस विशेषाङ्कका औचित्य और महत्त्व निःसंदिग्ध है।

पन्द्रह अगस्त भारतीय स्वतन्त्रता-दिवसका प्रेरणादायक पर्व है। श्री अरविन्दने आजसे सौ वर्ष पूर्व ही इस दिनको अपने उच्चतम जन्मसे पावन-पर्व बना दिया था। इसीलिए पन्द्रह अगस्तके इस शुभ-अवसरपर यह विशेषाङ्क प्रकाशित करनेमें हमें प्रसन्नताका अनुभव होता है। इस अङ्कके लिए उत्तमोत्तम सामग्रीके सञ्चयनका सारा श्रेय डा० श्री हजारीलाल माहेश्वरीको है, जो श्री अरविन्द-आश्रमके ही एक-सम्भ्रान्त साधक और हमारे अन्यतम मित्र हैं। उन्होंने यह स्पृहणीय परिश्रम जन-कल्याणकी भावनासे ही किया है। एतदर्थ वे जनसाधारणके लिए धन्यवादके पात्र हैं। हमें तो वना वनाया सामान मिल गया और हमने इसके परिवेषण मात्रका कार्य किया है। सतत सावधानी रखनेपर भी इसमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य शेष रह गयीं होंगी, जिनके लिए हम पाठकोंसे सादर क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

तेरी ज्योति उतर रही है !

हे प्रभु ! एक सूर्यकी तरह तेरी ज्योति पृथ्वीपर उतर रही है। तेरी किरण संसारको उद्भासित कर देंगी। जो 'तत्व' केन्द्रीय अग्निकी ज्योतिको अभिव्यक्त करनेके लिए पर्याप्त शुद्ध हैं, पर्याप्त नम्नशील और पर्याप्त ग्रहणशील हैं, वे सब एकत्र हो रहे हैं। निश्चय ही यह किसीकी मौजकी बात नहीं। यह किसी एक या दूसरेकी इच्छा या अभीप्सापर भी निर्भर नहीं। यह निर्भर है—बस समस्त व्यक्तिगत निर्णयसे स्वतंत्र जो कुछ वह है, उस पर। तेरी ज्योति विकीर्ण होना चाहती है; जो कुछ उसे अभिव्यक्त करनेमें समर्थ है वह उसे अभिव्यक्त कर रहा है। इस तरहके 'तत्व' उस दिव्य केन्द्रका, जो अभिव्यक्त होनेवाला है, पुनस्संगठन करनेके लिए, विभाजनके इस जगत्में जितनी पूर्णताके साथ करना सम्भव है उतनी पूर्णताके साथ संगठन करनेके लिए एकत्र हो रहे हैं।

—श्री माँ

योगिराज श्री अरविन्द : एक झाँकी

डॉ० हजारीलाल माहेश्वरी

★

धन्य है यह भारतवर्ष, जहाँ युग-युगसे महापुरुषोंका, ऋषि-महर्षियोंका, योगिजन और अवतारोंका आविर्भाव होता रहा है। धन्य है यह मानव-जाति, जिसे इन दिव्य विभूतियोंसे अपना जीवन उन्नत बनानेकी प्रेरणा मिलती रही है। सौभाग्य है इस पृथ्वीका, जिसपर वैकुण्ठकी ज्योति उतरती है और इसे स्वर्ग बन जानेकी सम्भावना जगा जाती है।

श्री अरविन्दसे भारतका सौभाग्य जगा, मानव-जातिकी आशा उमगी और सम्पूर्ण पृथ्वीको मिला अमर आश्वासन!

श्री अरविन्दका जन्म १५ अगस्त १८७२ को कलकत्तामें हुआ। उनके पिता श्री कृष्ण-धन घोष प्रतिष्ठित चिकित्सा-अधिकारी थे। उन्नीसवीं शताब्दीका वातावरण और मनोभाव था—'भारत गुलाम देश तो है ही, ज्ञान-विज्ञानमें भी सदासे पिछड़ा हुआ है, असभ्य है, असंस्कृत है।' इसी मनोभावसे बालक अरविन्दको केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही उनके पिताजीने भारतसे दूर अंग्रेजी सभ्यतासे सम्पन्न देश इङ्गलैण्डमें शिक्षा प्राप्त करनेके लिए पहुंचा दिया। कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थी अरविन्दने वहाँ आरम्भसे लेकर कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालयकी उपाधि, ट्रिपॉस तक शिक्षा प्राप्त की। किशोरावस्थामें ही उन्हें अंग्रेजीके साथ-साथ यूरोपकी अन्यान्य भाषाओंका भी अच्छा ज्ञान हो गया था। यूनानी एवं लैटिन भाषा भी उन्होंने भलीभाँति सीख ली थी। इन भाषाओंमें वे कविता भी लिखने लगे थे और पुरस्कार भी प्राप्त करते थे। उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर वे आई० सी० एस० (भारतीय सिविल सर्विस) की परीक्षामें सम्मिलित हुए और विशेष योग्यतासे उत्तीर्ण हुए। किन्तु उन्हें अंग्रेजी शासनका कोई अधिकारी बनना स्वीकार्य नहीं था, अतः उन्होंने जानबूझकर घुड़सवारीकी परीक्षा नहीं दी और अपने सम्मुख प्रस्तुत उच्चतम पदकी उपेक्षा कर दी। उसी समय बड़ौदा-महाराजने उनकी प्रतिभा और महत्तासे प्रभावित हो उन्हें अपने राज्यमें एक उच्च पदपर आमन्त्रित किया। वे भारत आ गये। उनकी विद्वत्ता देख शीघ्र ही उन्हें बड़ौदा-कॉलेजमें फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्यका प्रोफेसर बना दिया गया।

भारत आते ही श्री अरविन्दने संस्कृत एवं भारतीय वाङ्मयका गहन अध्ययन कर लिया। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, इतिहास आदिके अध्ययनके साथ-साथ उन्होंने योगाभ्यास भी आरम्भ कर दिया। अब क्रमशः उनकी चेतनामें मानो विश्वगुरु भारत जगने लगा। उन्होंने स्पष्ट देखा कि भारतको विश्वका नायक बनना है। किन्तु इसके लिए आवश्यक था कि पहले वह पराधीनतासे मुक्त हो। भारत राष्ट्रके प्रति उनके हृदयमें एक अपूर्व भाव जग चुका था। अब समय आ गया था कि प्रोफेसर अरविन्द घोष भारतकी स्वतन्त्रताके लिए राजनैतिक मञ्चके सूत्रधार बनें और उसका नेतृत्व संभालें। अद्भुत बात यह थी कि योगाभ्यास द्वारा अब श्री अरविन्दकी मन-बुद्धिवाली चेतना शान्त हो चुकी थी।

भागवत चेतनाका उन्हें स्पर्श मिल चुका था और उनका शरीर, उनका मन और उनकी वाणी सब कुछ भगवान्‌के यन्त्र बनकर कार्य करने लगी थीं। उच्च चेतनाके प्रकाशमें उन्होंने राजनैतिक और राष्ट्रीय लेखोंका लेखन आरम्भ कर दिया।

उधर वंग-देशमें राष्ट्रियताकी भावना जगने लगी। कलकत्तामें राष्ट्रिय कॉलेज खुला और सन् १९०६ में श्री अरविन्द उसके प्रधानाचार्य बने। उनका प्रधानाचार्य बनना एक निमित्त था। प्रमुख कार्य जो उन्हें करना था वह तो था राष्ट्रकी स्वतन्त्रताके लिए भारतीय चेतना जगाना और उसके लिए सफल आन्दोलन चलाना। क्रमशः उन्होंने 'वन्दे मातरम्' और 'कर्मयोगिन्' नामक दो पत्रिकाओंका सम्पादन भी आरम्भ किया। उनकी लेखनीमें उतरता था भगवान्‌का तेज और परिणाम होता था जन-जनके हृदयमें भारत माताके प्रति भक्ति, समर्पण और बलिदानकी अदम्य भावनाका जागरण। श्री अरविन्द थे राष्ट्र-प्रेमके प्रबोधक, स्वदेशी-आन्दोलनके परिचालक, भारतीय स्वतन्त्रताके उद्घोषक—इन सबके मन्त्रद्रष्टा, सबके सूत्रधार! राष्ट्रका आत्मा श्री अरविन्दमें मूर्तिमान् हो गया था। कांग्रेसका संगठन, 'वन्दे मातरम्' आदिका सम्पादन, क्रान्तिकारी युवक-शक्तिका मार्ग-दर्शन—सब कुछ उनकी विलक्षण प्रतिभासे संचालित होने लगा, उनके तपोबलसे सुदृढ़ बनने लगा; श्री अरविन्दकी समस्त राजनीति और राष्ट्रियताके मूल-केन्द्रमें थी, उनकी एक गहन आध्यात्मिक अनुभूति। वह मुखरित हो उठी: **भारतमाता एक भूखण्ड मात्र नहीं। वह एक शक्ति है, भागवती शक्ति।** एक वर्षके भीतर श्री अरविन्दकी दिव्य प्रेरणा ने जन-जनके हृदयमें एक ज्योति जगा दी। राष्ट्र-भावना, निर्भीकता, आत्मविश्वास, भारतीयताका गौरव, सब एक साथ बढ़ने लगे। कान्तिकी ओजस्विनी धारा प्रवाहित होने लगी और ब्रिटिश-साम्राज्य अपने भविष्यके विषयमें शंकित हो उठा। अपनी दुर्नीतिसे गोरे शासकोंने श्री अरविन्दको १९०८ में किसी बहानेसे मिथ्या अभियोगमें बन्दी बना लिया और अलीपुर-जेलमें उन्हें यातनाओंके साथ एक वर्षतक रखा। उस कठिन कारागार-जीवनका श्री अरविन्दने उपयोग कर डाला अपनी योग-साधनाके लिए और प्राप्त किया वह उच्च अनुभव, जिसे गीतामें दुर्लभ 'वासुदेव-दर्शन' बताया गया है: **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।** अभियोग प्रमाणित नहीं हो सका, श्री अरविन्दको कारागारसे मुक्ति मिली, जनसमूहने उनका स्वागत किया। श्री अरविन्दने प्रत्युत्तरमें उन्हें सन्देश दिया: भगवान्‌का, एकमात्र भगवान्‌का, जिनके समर्थ हाथोंमें अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर देनेपर भारतका और सम्पूर्ण विश्वका कल्याण होगा।

१९१० में श्री अरविन्द पांडिचेरी पधारे और एकान्तवासमें योग-साधनामें रत हो गये। उनके योगका अभिप्राय लौकिक जीवनका त्यागकर व्यक्तिगत मुक्तिके लिए ऐकान्तिक साधनामात्र नहीं, समस्त प्राकृतिक जीवनका परिष्कार कर उसे भगवान्‌की अभिव्यक्तिके योग्य बना देना है। इस योगकी साधनाके लिए आवश्यकता है, मनोमयी अवस्थासे ऊपर दिव्य चेतनामें उठना और उस दिव्य चेतनाको जीवनके प्रत्येक अङ्गमें उतारना। श्री अरविन्दके इस योगका नाम है 'पूर्ण-योग'। जीवनके समस्त अङ्गोंको, सम्पूर्ण जीवनको भागवत जीवनके लिए तैयार करना और भागवत शक्तिसे जीवनका दिव्य रूपान्तरण होना—

यह है इस पूर्ण-योगका अभिप्राय। स्वभावत: सम्पूर्ण जीवनको दिव्य बना देनेका उद्देश्य कोई व्यक्तिगत मुक्तिका उद्देश्य नहीं है। वह तो सम्पूर्ण विश्वके लिए एक दिव्य योजना है, उसमें मानवमात्रके उन्नयनकी आशा और विश्वास है।

श्री अरविन्दकी योग-साधनाके अन्तर्गत उनके दिव्य साहित्यका सृजन होने लगा। उनके ग्रन्थोंकी गणना, जीवनव्यापी उन समस्त विषयोंकी नामावली, जिनपर श्री अरविन्दने लिखा है, अपने आपमें एक लेखका विषय हैं। उनके महान् ग्रन्थोंमें The Life Divine, Synthesis of Yoga, Essays on the Gita, The Human Cycle, The Ideal of Human Unity, On the Veda, Foundations of Indian Culture एवं उनके महाकाव्य Savitri की गणना की जा सकती है। इस प्रसंगमें वे हमारे इस युगके व्यास हैं।

श्री अरविन्दको योगकी अत्युच्च सिद्धि प्राप्त हुई २४ नवम्बर १९२६ को। तबसे सन् १९५० तक वे एक ही कक्षमें विश्वोद्धारक दिव्य जीवनकी उच्चतर सिद्धिके लिए योग करते रहे। ५ दिसम्बर १९५० को उन्होंने महासमाधि ले ली। चार दिनोंतक उनके शरीरमें दिव्य चेतनाका तेज दिखाई पड़ता रहा; शरीर-विघटनके कोई लक्षण थे ही नहीं। ९ दिसम्बरको श्री अरविन्द-आश्रमके आँगनमें उनके योगशेष देहको समाधि दी गयी। समाधिपर एक अद्भुत शोभामयी शान्ति विराजती है, जहाँ सहस्र-सहस्र नर-नारी नित्य प्रणाम करते हैं और पाते हैं एक दिव्य स्पन्दन, एक विलक्षण शान्ति!

योगराज श्री अरविन्दके जीवन-वृत्तकी इन घटनाओंसे उनका परिचय केवल आरम्भ होता है, शेष तो वह हो ही नहीं सकता। वास्तवमें तो उनका जीवन-वृत्त कहने अथवा लिखनेमें आ ही नहीं पाता। उनकी अपनी वाणी है : 'No one can write about my life because it has not been on the surface for men to see.' कोई भी व्यक्ति **मेरे जीवनके विषयमें लिख नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्योंके देखनेकी सतहपर नहीं रहा है।** उनसे परिचित बननेके लिए अपने भीतर एक ऐसी चेतना जगानी होगी जो उनके प्रति खुल सके, उनकी वाणीमें उतरे हुए जीवनके सत्योंको ग्रहण कर सके, उनके सन्देशोंकी ऊँचाईकी ओर उठ सके, उनकी प्रेरणासे सिहर सके, उनके दिव्य ज्ञानसे स्वयं आलोकित होनेको प्रस्तुत हो। यदि वह चेतना जग पायेगी तो श्री माँके द्वारा दिया गया सन्देश स्पष्ट बनेगा :

> Sri Aurobindo belongs to the future, he is a messenger of the future. He still shows us the way to follow in order to a hasten the realization of glorious future fashioned by the Divine Will. 'श्री अरविन्द भविष्यके हैं, वे भविष्यके सन्देश-दाता हैं। अभी भी वे अनुगमनीय मार्गका दर्शन कराते हैं, ताकि उस भव्य और उज्ज्वल भविष्यकी शीघ्र उपलब्धि हो सके, जिसका विधान भगवत्संकल्प द्वारा किया गया है।'

●

जिनसे भारतीय संस्कृति 'महाभागा' बनी !

श्री महेश्वर

★

भारत और भारतीय संस्कृतिका क्या अभिप्राय है, इस विषयमें श्री अरविन्दके प्रभूत चिन्तन और दर्शनमें हमें विशेष निर्देशन प्राप्त होता है। अनेक बार सही और और स्वाभाविक चिन्तनके अभावमें हम संस्कृतिका एक उधार लिया हुआ और अस्वाभाविक अर्थ मनमें धारण किये रहते हैं। कभी जीवनके बाह्य रंग-ढंगको संस्कृति मान बैठते हैं तो कभी नृत्य, नाटक और अभिनयकी शैलियोंको संस्कृतिका नाम दे डालते हैं; कभी रहन-सहनकी प्रणालियोंको संस्कृतिका पर्याय समझ लेते हैं तो कभी विशेष वेश-भूषा और साज-सज्जाको संस्कृतिका स्वरूप बना देते हैं। वास्तवमें ये समस्त बाह्य प्रसाधन और प्रणालियाँ, समस्त जीवन-शैलियाँ हमारी संस्कृतिकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं, उसका स्वरूप नहीं, प्राण नहीं।

संस्कृतिका सार-तत्त्व, उसका वास्तविक आशय हमारे आन्तर जीवनके उन गहरे संस्कारोंमें निहित है जो हमारे ज्ञान और बोधके उत्कर्षसे; हमारी अनुभूतियोंकी गहनता और सरसतासे; हमारे संकल्पोंकी पवित्रता, समर्थता, श्रेष्ठतासे एवं हमारे कर्मकी प्रेरणा, प्रयोजन तथा सार्थकतासे पुष्ट और सजग होते रहते हैं। इन सभीमें हमारा एक महत्त्वभाव, हमारी श्रेय:साधना, मूल्योंकी स्पष्ट धारणा और जीवनकी निष्ठा विद्यमान रहती है।

यहाँ एक उदाहरण दे देना सार्थक होगा। गुप्तकालीन संस्कृतिके विषयमें जाननेके लिए पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा अनुसन्धानसे प्राप्त सामग्रीका हम अवलोकन करते हैं। उस कालकी मूर्तियाँ, चित्र, स्थापत्य, शिलालेख, सिक्के, विभिन्न प्रकारके अलंकरण एवं पात्रादि सभी तत्कालीन संस्कृतिके द्योतक हैं; उसके प्रकाशक हैं और उस युगके चित्रणके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु गहराईसे देखें तो इस प्रकारकी समस्त सामग्रीसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीनी यात्री ह्वेनसांग'का यह वर्णन है कि 'उन दिनों लोगोंके घरोंमें ताले नहीं लगते थे।' इससे उस कालके जनजीवनकी वृत्तियों और उनके संस्कारोंकी झाँकी मिलती है, जिसके अनुसार लोभ, भय, चोरी आदिका अभाव और सचाई, विश्वास, ईमानदारी एवं निर्भयताका सहज स्वभाव व्यक्त होता है। उस यात्री द्वारा दिया हुआ उस मुकदमेका वर्णन सांस्कृतिक दृष्टिसे कितना

अनुपम और महत्त्वपूर्ण है, जिसमें दो व्यक्ति एक भूखण्डसे निकले धनको एक दूसरेका बताते हुए अपना माननेको तैयार नहीं होते और कहते हैं : 'यह मेरा नहीं, उसका है।' हमें अपने संग्रहालयोंमें पुराने सिक्के देखनेको मिलते हैं। उनका आकार-प्रकार, धातुमिश्रण आदि हमारे अध्ययनके लिए रुचिकर होते हैं। किन्तु उन सिक्कोंके प्रति, धनके प्रति किसी युग-विशेषके लोगोंका आन्तरभाव क्या था, मनोवृत्ति कैसी थी, इसे समझे बिना हमें अपनी उस कालकी संस्कृतिका कदापि कोई परिचय नहीं हो पाता। यही बात अन्य समस्त पदार्थों और अध्ययनकी सामग्रियोंके लिए लागू होती है, चाहे वे मन्दिर हों अथवा प्रासाद, मूर्तियाँ हों अथवा चित्र, दैनिक जीवनके प्रयोगकी वस्तुएँ हों अथवा चित्र-विचित्र अलंकरण, शिलालेख अथवा साहित्य।

संक्षेपमें, हमें अपने इस महान् राष्ट्रकी संस्कृति समझनेके लिए यह समझना पड़ेगा कि इस राष्ट्रके मस्तिष्कका चिन्तन क्या रहा है? इसके हृदयकी धड़कन क्या रही है? इसके प्राणोंका स्पन्दन क्या है? इसके आदर्शोंकी ऊँचाई क्या है? इसकी दृष्टि कैसी है? भावना क्या है? प्रेरणा क्या है?—एक शब्दमें : **हमारे जीवनका अन्तरंग क्या है?**

अन्तरङ्ग भावसे भारतीय संस्कृति एक त्रिवेणी है जिसमें प्राचीन कालसे ज्ञानकी गंगा, भक्तिरूपा यमुना और और प्रेरणामयी सुकर्म-धारा सरस्वतीका दिव्य प्रवाह बहता रहा है। जिन महाभागोंकी सुबुद्ध चेतना इस त्रिवेणीमें अवगाहन करती है, वे धन्य-धन्य हो जाते हैं। उनमें सूक्ष्म बोधकी ऊँचाई, भावनाओंकी गहराई और सत्कर्मकी प्रगतिशीला प्रेरणा आती है : उनका अपना जीवन तो उज्ज्वल, श्रेष्ठ और पवित्र बनता ही है, औरोंके लिए भी वह उदाहरण बन जाता है।

इस प्रसंगमें श्री अरविन्दका स्मरण एक अद्भुत स्मरण है। उनका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृतिमें पगा हुआ, उससे प्रेरित और उसका पोषक था—इतना तो साधारणतः सभी जानते हैं। किन्तु हमारे लिए श्री अरविन्द इससे कहीं अधिक हैं। वे ऐसे महापुरुष हैं जिनसे हमारी संस्कृतिकी त्रिवेणी स्वयं समृद्ध बनी है। उनकी दिव्य चेतनासे निःसृत तत्त्वज्ञानके निर्मल स्रोत, रस और प्रेमकी अगाध-सलिला और दिव्य कर्मकी स्फूर्तिदायिनी संजीवनी धाराने स्वयं भारतीय संस्कृतिको 'महाभागा' बना दिया है। उन्हें पाकर भारतीय संस्कृति सौभाग्यवती हो गयी, धन्य-धन्य बन गयी है!

श्री अरविन्दने भारतीय संस्कृतिका मार्मिक विवेचन कर उसके समस्त आधारोंको प्रकाशित किया है। उनके अनुसार इस संस्कृतिका तात्त्विक आधार आध्यात्मिक आधार है। उसका दर्शन है यह सत्य कि 'समस्त सृष्टि परमात्मतत्त्वसे उद्भूत है, उसीमें इसकी समस्त गति है, समस्त विधि है। उसीसे यह समस्त सत्ता ओत-प्रोत है, समस्त जीवन अनुप्राणित है, समस्त चेतनता प्रकाशित है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्की विराट् देह है। इस विश्वकी समस्त भौतिकतामें वही परम सत् स्थित है, इसका समस्त जीवन

और प्राणस्पन्दन उसी परम चित्‌की तरङ्ग है, इसकी समस्त चेतना उसीका सङ्कल्प है। व्यक्ति-व्यक्तके अन्तरात्मामें वही परमानन्द हँस रहा है।' यही दर्शन भारतीय संस्कृतिका केन्द्रीय सत्य है। समस्त बाह्य जीवन अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति है, अन्तरात्मासे ही समस्त जीवन सर्जित है, उसीसे वह संचालित है। अतः समस्त सौन्दर्य समस्त कला, समस्त साहित्य आन्तरिक अनुभूतियोंसे प्रेरित है। वे अन्तरात्माकी अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीअरविन्दके विशेष ग्रन्थ 'The Foundations of Indian Culture' में विस्तारसे भारतीय संस्कृतिका, यहाँकी कला और साहित्यका, शिल्प और स्थापत्यका, धर्म और लोक-जीवन-दर्शनका विवेचन हुआ है। उन्होंने यह समझाया है कि इन सबके मूलमें एक आत्मिक सौन्दर्य है, आत्मिक प्रेरणा है और आत्मिक रसानुभूति है। **भारतीय संस्कृतिका हृदय है: आत्मबोध, आत्मदर्शन, सौन्दर्य, आत्माभिव्यक्ति।**

भारतीय संस्कृतिके संदर्भमें आध्यात्मिक प्रेरणाकी चर्चा अनेक बार एकदेशीय अथवा ऐकान्तिक चर्चा मान ली जाती है। कभी-कभी यहाँतक कह दिया जाता है कि 'आत्माकी चर्चा लोक-जीवनसे भिन्न, उससे परेकी चर्चा है', आदि। लेकिन श्री अरविन्दके प्रकाशमें ऐसी मान्यता सर्वथा भ्रामक है। आत्मतत्त्व कोई ऐसा ऐकान्तिक तत्त्व नहीं, जो जीवनके किसी भी अंशका बहिष्कार करे। साथ ही 'आध्यात्मिकता' जीवनका परित्याग कर एकान्तमें निश्चेष्ट बैठ जानेका नाम नहीं है। स्वरूपतः आत्मतत्त्व अन्तर्यामी तत्त्व है और समस्त जीवन उसके अन्तर्गत है। इसलिए आध्यात्मिक जीवनका सही अर्थ होगा, 'वह सचेत जीवन, जो अपने सच्चे केन्द्रसे उसी प्रकार सञ्चालित हो जिस प्रकार हमारी शारीरिक क्रियाएँ, हमारे हृदय और मस्तिष्क आदि प्राण-केन्द्रोंसे सञ्चालित होते हैं।' गहराई से देखा जाय तो आध्यात्मिकता ही भारतीय संस्कृतिका वह रहस्य है जिसके कारण वह हजारों वर्षोंसे जीवित है, सजग है। आध्यात्मिकता ही वह प्रेरणा-स्रोत है, जिससे संजीवन प्राप्त करती हुई यह संस्कृति दिव्यताकी ओर उन्मुख होती रही है और अधिकाधिक अग्रसर होती रहेगी।

इस प्रसङ्गमें श्री अरविन्दका स्मरण केवल एक संस्कृति-व्याख्याता अथवा विद्वान् मात्रके रूपमें कर लेना पर्याप्त नहीं है। वे भारतीय संस्कृतिके मात्र प्रस्तोता नहीं, उसके प्रेरक, पोषक, संवर्धक, नायक और गुरु भी हैं। उनसे भारतीय संस्कृतिको सिंचन प्राप्त हुआ है। उन्होंने इसमें प्राण फूंका है, इसे उज्ज्वल बनाया है, इसे प्रदीप्त किया है। श्री अरविन्दका पूर्ण-दर्शन, उनका पूर्णयोग, समस्त सृष्टिमें निहित दिव्य विधानका उनका उद्घाटन, मानव-जीवनकी अनवरत अभीप्सा और अवश्यभावी उसकी परासिद्धिकी उनकी दिव्य घोषणा, मनुष्य-जातिकी सर्वोच्च एकता और उसके उज्ज्वल भविष्यका सुनिश्चित संकेत देश-कालातीत नित्य सत्यसे देश-कालगत समस्त जीवनकी नित्य-नयी प्रेरणा प्राप्त करनेका सजीव आदर्श—यह सब वह अमूल्य निधि है, जिसे पाकर भारतीय संस्कृति धन्य-धन्य हो उठी है।

श्री अरविन्दके प्रकाशमें आज हमारे लिए यह स्पष्ट हो गया है कि भारतीय संस्कृतिमें निहित है हमारे आन्तर जीवनकी वह उपलब्धि, जिसे हमने आत्मिक गहराइयोंसे प्राप्त किया

है। उसी आत्मिक गहराईसे हमारा दर्शन, हमारा धर्म, हमारी नीति, हमारा लोक-परलोक-जीवन, हमारा संगीत और हमारा काव्य, हमारी कला और कौशल प्रेरित हुए हैं; समृद्ध बने हैं। श्री अरविन्द हमें चेतनाकी इन आत्मिक गहराइयोंको पुनः प्राप्त करनेके लिए और उसी चेतनासे अपने जीवनका सम्पादन करनेके लिए प्रेरित करते हैं।

> किन्तु वे इस सत्यका भी उद्‌घाटन करते हैं कि हमारी आत्मिक चेतनाके मूलमें एक दिव्य चैतन्य, भगवच्चैतन्यका आधार है जो हमें और हमारे अन्तरात्माको ऊपरकी ओर, भगवत्ताकी ओर उठनेके लिए प्रेरित करता है। वही दिव्य चैतन्य ऊपरकी ओरसे, दिव्य ऊँचाईसे हमारी सम्पूर्ण सत्ताका रूपान्तरण कर डालनेके लिए अवतरित होता है।

स्पष्ट है कि श्री अरविन्दने भारतीय संस्कृतिकी अबतककी उपलब्धिके आध्यात्मिक रहस्यका तो उद्‌घाटन किया ही है, इस गरिमामयी संस्कृतिके दिव्य भविष्यके द्वार भी खोल दिये हैं। वे स्वयं अपने अतिमानसिक दिव्य चैतन्यसे प्रकाश-स्तम्भ बन गये हैं। हमारी यह भारतीय संस्कृति क्या थी, क्या रही है, यह जानना निःसन्देह आवश्यक है, महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इसे आगे क्या होना है, इसका भविष्य क्या होगा—इसके प्रति जगना और जगाना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। श्री अरविन्दकी वाणी है: 'We do not belong to the past dawns, but to the noons of the future.'

भारतीय संस्कृतिके दिव्य भविष्यका जो संकेत श्री अरविन्द द्वारा हमें प्राप्त हुआ है, उसमें भारतीय संस्कृतिकी परिपूर्णता तो होगी ही, उससे मानव-जातिका सांस्कृतिक चरमोत्कर्ष भी सिद्ध होगा। उस जीवनका आन्तर और बाह्य, सब कुछ दिव्य ज्ञान, दिव्य ज्योति, दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण होगा। उस उच्च अवस्थाकी प्राप्तिके लिए भारत अपनी आध्यात्मिक ज्योतिकी मशाल लेकर सम्पूर्ण विश्वका, मानव-जातिका सांस्कृतिक नेतृत्व करेगा, पथ-प्रदर्शक बनेगा। श्री मांके शब्दोंमें The true destiny of India is to be the spiritual Guru of The world.

'भारतका सच्चा भवितव्य है समस्त विश्वका आध्यात्मिक गुरु होना!'

•

सत्य चेतनाका निर्माण

सबसे पहली बात जो साधनामें करनी है वह है मनमें एक सुप्रतिष्ठित शांति और निश्चल-नीरवताको प्राप्त करना। अन्यथा तुम्हें अनुभूतियाँ तो हो सकती हैं, पर कुछ भी स्थायी नहीं होगा। एकमात्र निश्चल-नीरव मनमें ही सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सकता है।

—श्री अरविन्द

कृष्ण-दर्शन !

विकट मधुर इस मर्त्यलोकमें
जन्म लिया क्यों आत्माने
आखिर इसका रहस्य इक दिन
बरबस जान लिया मैंने,

क्योंकि हो गया मेरा भूके
भूखे उरसे एकाकार,—
कृष्ण-चरणकी लगन लिये जो
बढ़ा जा रहा दिवके पार।

देखी उन अमर्त्य नयनोंकी
मैंने लीला सुन्दरता,
और सुनी है प्रेमी वंशी-
की मैंने रागोन्मदता

एक अमर हर्षातिरेककी
सिहरनने अभिभूत किया,
औ अन्तरके सब दुःख-सुखने
सदा सदाको मौन लिया।

निकट, निकटतर अब मेरे
वंशीध्वनि है बढ़ती आती
एक विचित्र सुखातिरेकसे
प्राण-शक्ति सिहरी जाती,

प्रियके स्पर्श और आलिङ्गन
औ सन्निधि - आकर्षणमें
सकल प्रकृति है बनी ठगी-सी
इस विशाल सम्मोहनमें।

इसी एक क्षणके हित जीता
आया है सब बीता 'काल'
जगती सिहर उठी है मुझमें
आखिर बन परिपूर्ण निहाल।

—श्री अरविंद

भारतीय दर्शनको श्री अरविंदकी देन

डॉ० हजारीलाल माहेश्वरी

★

भारतमें दर्शन-चिन्तनका विकास ऋषि-मुनियों तथा आचार्यों द्वारा सम्पन्न हुआ है। भारतीय दर्शन केवल कुशल और बारीक चिन्तनमात्र नहीं है, वह जीवनकी सर्वोच्च सिद्धिका एक साधन रहा है। उसके मूलमें आध्यात्मिक प्यास रही है। जहाँतक स्वतंत्र चिन्तनकी बात है, वस्तुतः आध्यात्मिक साधनाका आरम्भ हीं उस आंतरिक स्वतंत्रतासे होता है, जिसमें चिन्तनकी भूमिकाका भी अतिक्रमण हो। पाश्चात्त्य-परम्परामें स्वतंत्रताका अर्थ केवल दूसरोंकी मान्यतासे स्वतंत्र होना है, मानसिक चिन्तनसे ऊपर उठना नहीं। मतावलम्बन और स्वतंत्र तर्कयुक्त चिन्तनमें विरोध हो सकता है। किन्तु आध्यात्मिक अनुसंधान और स्वाध्यायमें (शास्त्र-परिशीलनमें) यह विरोध नहीं है, क्योंकि प्रायः दोनोंका सम्बन्ध साधनासे है। यहाँके विश्वमान्य दार्शनिक आचार्यगण—शंकर रामानुजादिका चिन्तन शास्त्रोंपर आधृत है।

ऐसे सन्दर्भमें योगिराज श्री अरविन्द और उनका दीप्तिमान् दर्शन सम्मुख आता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शनमें न कोई शिथिलता है, न सम्पन्नताका अभाव। श्री अरविन्द स्वयं योगी हैं, तत्त्व-वेत्ता हैं, शास्त्रज्ञ हैं और दार्शनिक भी।

उनके दार्शनिक चिन्तनका आधार है उनके चालीस वर्षोंका लम्बा एकान्तवास, उनका अनवरत आध्यात्मिक अनुसंधान और उनकी अखण्ड योग-साधना। उसीमें भारतीय दर्शनके महान् ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता आदिका स्वाध्याय तथा पाश्चात्त्य विचार-साहित्यका अवलोकन भी सम्मिलत है। आध्यात्मिक साधनासे सम्पन्न दिव्य दर्शन और विस्तृत अध्ययनसे युक्त चिन्तन—श्री अरविन्दमें इन दोनोंका जैसा योग देखनेको मिलता है, वह विलक्षण है, अलभ्य है। इस सम्पन्नताको प्रकाशित करनेवाली उनकी लेखनीने भी अनुपम कार्य किया है। परिणाम यह है कि आज श्री अरविन्द-साहित्यसे भारतीय दर्शनको एक बहुत बड़ी निधि प्राप्त है। The Life-Divine एवं The Synthesis of yoga जैसे गहन और महान मौलिक ग्रन्थ, On The Veda, The upanishadas तथा Essays On The Gita जैसे विशाल भाष्य, The Human Cycle एवं The Ideal of Human Unity जैसे समाज-दर्शन और इतिहास-दर्शनके ग्रन्थ तथा Savitri जैसा रहस्यात्मक महाकाव्य आज हमें उपलब्ध है। इन सब ग्रन्थोंमें श्री अरविन्दका एक ऐसा जीवनव्यापी दर्शन मिलता है कि उसका नाम ही है

Integral Phliosophy अथवा पूर्ण दर्शन। उनके योगको भी पूर्ण योग और उनके शिक्षा सिद्धान्तको पूर्णशिक्षा-सिद्धान्त कहा गया है।

भारतीय दर्शनके संदर्भमें यहाँके देश-कालका ताना-बाना ही सब कुछ नहीं है। उसका सार, उसका स्वभाव उन मूलभूत सांस्कृतिक प्रेरणाओंमें निहित है जो भारतीय जीवनको चिन्तनशील और विवेकमयी बनाती रही हैं। कारण, दार्शनिक चिन्तन केवल ऐतिहासिक घटना-क्रम नहीं होता और न वह केवल किसी देशकी जल-वायुकी उपज है। उसका उदय मानवकी उस चेतनासे होता है, जो सम्पूर्ण जीवनके रहस्यके विषयसे जिज्ञासा करती है।

भारतीय दर्शनकी मौलिक समस्याओंको तथा उसकी सांस्कृतिक विशेषताओंको सूक्ष्मतासे देखा जाय, तो स्पष्ट होगा कि उसके कुछ प्रमुख सूत्र हैं जो यहाँ प्रायः सभी दर्शन-परम्पराओंमें विद्यमान हैं।

आरम्भिक सूत्र यह है कि हमारी दार्शनिक प्रवृत्तिके मूलमें सदा ही मानवकी वह स्वाभाविक प्यास रही है जो सहज ही उसे किसी अज्ञात परिपूर्णताकी ओर प्रेरित करती रहती है। भारतीय दर्शनकी नैसर्गिक प्रेरणा उस अभीप्सामें है, जिसे मानवके सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी प्यास कहा जा सकता है। बौद्धिक रूपसे वह अभीप्सा तत्त्व-जिज्ञासाके रूपमें उदित होती रही है तथा उसके मूलमें किसी न किसी प्रकारसे मुमुक्षुत्वकी प्रेरणा रही है। हृदयकी रागात्मक भूमिकामें वही अभीप्सा परम प्रियतमकी आराधनाके रूपमें, सुन्दरतमकी उपासनाके रूपमें आनन्द-प्राप्तिके लिए अनुरक्त बनाती रही है। प्रवृत्ति-भूमिकापर वह अभिलाषा, धर्म-कर्म-जिज्ञासा एवं धर्मावलम्बनके रूपमें अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिए प्रेरित करती रही है। इन तीनों ही भूमिकाओंपर भारतीय दर्शन साधनामय रहा है। जीवनकी सर्वोच्च सिद्धि ही जीवनका लक्ष्य रहा है। इस परा सिद्धिको हम चाहे दुःख-निवृत्ति कहें, निर्वाण या कैवल्य मानें अथवा अपवर्ग; 'मोक्ष' या 'आनन्द' कहें!

श्री अरविन्दके महान् ग्रन्थ 'The life Divine' के सर्वप्रथम अध्यायमें इसी मौलिक मानव-अभीप्साका निरूपण किया गया है। उसमें उन्होंने बताया है कि "मनुष्य प्यासा है। उसकी प्यास है परिपूर्णताके लिए, ज्ञानके लिए, शक्तिके लिए, स्वाधीनताके लिए, सम्पन्नताके लिए, आनन्दके लिए। उसकी यह प्यास सहज-स्वाभाविक प्यास है; सदासे है और निरन्तर रहती है। दिव्यताके लिए उसकी यह प्यास सबसे पहली और सबसे अन्तिम प्यास है। जबसे वह जागरूक है, उसने सदा इस प्यासका अनुभव किया है।

स्पष्ट है कि मानवकी दिव्य हो जानेकी इस अभिलाषामें उसके वर्तमान जीवनका एक प्रकारका अतिक्रमण निहित है। उसके वाञ्छनीय लक्ष्य और उसकी वर्तमान दशाका विरोध जैसा है। है तो वह मर्त्य, पर चाहता है अमर्त्य हो जाना। है तो वह अल्पज्ञ, पर चाहता है पूर्ण ज्ञान। है तो वह अशक्त-असमर्थ, पर चाहता है सर्व-सामर्थ्य। है तो वह बन्धनमें कुण्ठाग्रस्त, पर चाहता है अभङ्ग मुक्ति। घूमता तो है वह दुःख-सुखके क्षणिक अनुभवोंमें, पर चाहता है नित्यानन्द! किन्तु इन विरोधोंसे क्या हुआ? इन विरोधोंसे आगे बढ़ना ही तो जीवन-विकासकी पद्धति है। अतः उच्चतमकी आकांक्षाको परम सत्यकी जिज्ञासाको,

परमानन्दकी प्यासको निर्बाध रूपसे जगने देना है। मानव दिव्य बननेकी साधको संजोये रहे! उसका जीवन-दीप ज्योतिर्मय भगवान्‌की आराधनामें जलता रहे! इसी प्रेरणासे भारतीय दर्शन मानवको उज्ज्वल जीवनका आशामय सन्देश देता रहेगा।

भारतीय दर्शनका एक और महत्त्वपूर्ण सूत्र है, समन्वय-सूत्र। स्पष्ट है कि दार्शनिक अभीप्सा मानवकी ऐकान्तिक प्यास नहीं है। वह उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी प्यास है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनमें विभिन्न मत-मतान्तर होते हुए भी एक समन्वयकी भावना सदा-सदा बनी रही है। प्राचीनतम वेद-वाक्य है: **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**—सत्य एक है, विप्रजन उसका कथन अनेक प्रकारसे करते हैं। इसी भावनासे यहाँका दर्शन एकाङ्गी होनेकी अपेक्षा सर्वाङ्ग परिपूर्णताकी ओर अग्रसर होता रहा है। इतिहास साक्षी है कि ऐकान्तिक परम्पराओंमें भी वे प्रवृत्तियाँ और मान्यताएँ विकसित हो गयीं, जिनमें प्रकारान्तरसे जीवनकी समग्रता प्रतिष्ठित हो गयी। उदाहरणके लिए वेदान्त-जैसी जिज्ञासा और ज्ञान-प्रमुख दार्शनिक-परम्परामें श्रद्धा और भक्तिका स्वतः प्रवेश हो गया तथा विभिन्न आचार-मर्यादाएँ भी स्थापित हो गयीं। वैष्णव-जैसी भक्ति-प्रधान परम्परामें तर्क-संगत बौद्धिक सिद्धान्तोंका विकास हो गया, तात्त्विक चिन्तनसे समर्थन होने लगा और वैधी भक्तिके नामपर बाह्याचार-नियमोंकी व्यवस्था भी बनी। बौद्ध-जैसी शीलप्रधान परम्परामें तात्त्विक चिन्तनका सहारा लिया जाने लगा एवं श्रद्धा एवं विश्वाससे सिंचन प्राप्त किया गया।

श्री अरविन्दकी समन्वयी दृष्टिने एकाङ्गी मान्यताओंको एक सूत्रमें पिरो देनेका विलक्षण कार्य किया है। एक प्रबल द्वन्द्व, जो हमारे चिन्तनको अनेक बार विभक्त कर चुका है और जीवनमें एकाङ्गी झुकाव उत्पन्न कर चुका है, वह है पारमार्थिक परमात्म-सत्ता और जागतिक जीवनके भौतिक आधारका द्वन्द्व। आधुनिक कालमें तो यह द्वन्द्व प्रायः पूर्व और पश्चिमका द्वन्द्व बनकर सामने आया है। अनेक बार घोषणा की जाती है कि पूर्वीय दर्शन, विशेषतः भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है और पाश्चात्यदर्शन भौतिकवादी। श्री अरविन्दने अध्यात्मवादी संन्यास और भौतिकवादी भोग एवं परिग्रहके मूलमें ऐकान्तिक असन्तुलित मान्यताओंकी समालोचना की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अध्यात्मवादी संन्यासीकी भौतिक जीवनके प्रति उपेक्षा और भौतिकवादी भोगीकी परोक्षके प्रति अस्वीकृति—दोनोंमें एक दुराग्रह है, जो पूर्ण सत्यको बाधित करता है। वे लिखते हैं:

> 'इस पृथ्वीपर दिव्य जीवनके आविर्भावके लिए तथा मर्त्यलोकमें अमृतत्वकी भावनाके लिए तबतक कोई आधार नहीं हो सकता जबतक कि हम केवल इतना ही मानते रहें कि इस देह-प्रासादमें वास करनेवाला अविनाशी परमात्मा है। हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिस भौतिक तत्त्वसे यह निर्मित है वह एक ऐसा श्रेष्ठ और उपयुक्त पदार्थ है जिसमें से वह निरन्तर अपने वसन बुनता रहता है; पुनः पुनः अपने महल बनाता रहता है।'

इससे भौतिक जीवनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। किन्तु श्री अरविन्द सावधान करते हैं:

'इससे परे भी है, क्योंकि विश्व-चेतनाकी दूसरी ओर एक परात्पर चैतन्य है जिसकी हमें प्राप्ति हो सकती हैं। वह चेतना केवल 'अहम्'से ही नहीं, अपितु विश्वसे भी परे है। उसके सम्मुख यह ब्रह्माण्ड भी ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे एक अपरिमेय पृष्ठभूमिके सामने एक तुच्छ चित्र। वही है आधार समस्त ब्रह्माण्डकी गतिका !'

संन्यासवाद और भोगवादकी सीमाओं और साथ ही उनके महत्त्वको बताते हुए श्री अरविन्द एक समन्वयका संकेत करते हैं। वे कहते हैं : 'हमें वस्तुतः एक विशाल और पूर्णतर सत्यापनकी अपेक्षा है। हम देखते हैं कि भारतीय संन्यासके आदर्शमें **एकमेवाद्वितीयम्** के महान् वेदान्तिक सूत्रका उतने ही आवश्यक सूत्र **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** के प्रकाशमें ठीकसे अनुशीलन नहीं किया गया है। मनुष्यको भगवान्के प्रति ऊपर उठनेकी अभिलाषाको स्वयं भगवान्की नीचे झुककर अपनी प्रजाको नित्य-आलिङ्गनमें उठा लेनेकी अनुकम्पाके साथ सम्बद्ध नहीं किया गया है। जिस प्रकार उस दिव्यका आध्यात्मिक सत्य समझा गया है, उस प्रकार भौतिक सत्तामें उसका अर्थ नहीं पकड़ा गया।'

× × ×

श्री अरविन्द-दर्शन मूलतः वेदान्त-दर्शन है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे केवल एक मतविशेषके अनुयायी हैं। 'वेदान्त' वैदिक सिद्धान्तोंका सार-संग्रह, उनका समन्वय एवं उच्चतर सत्यमें आरोहण द्वारा उनको परिपूर्ति है। इसीलिए यह वेदका अन्त—वेदान्त है। इसी प्रकार श्री अरविन्द-दर्शनमें अन्यान्य मत-मतान्तरोंका यथायुक्त मूल्यांकन है। उनका अतिक्रम और एक दिव्य सत्यमें ऐसा आरोहण है जिससे वे सब परिपूर्ण हो जाते हैं। उनका दर्शन अन्य किसी भी मतका विरोध अथवा खण्डन नहीं करता, चाहे वह मत भारतीय हो अथवा अभारतीय। हाँ, प्रत्येक मतकी अपनी सीमा हैं जिसे श्री अरविन्द दिखाकर उसकी पूर्ति करते चलते हैं। उसके अधूरेपनको वे दूर करते हैं। परिणामतः उनका वेदान्त 'पूर्णाद्वैत वेदान्त' कहा गया है, जिसमें औपनिषद वेदान्तकी व्यापकता भी है और अद्वैत, विशिष्टाद्वैतादि मतोंका समन्वय भी।

श्री अरविन्दके पूर्णाद्वैत-वेदान्तके अनुसार परात्पर तत्त्व सच्चिदानन्द है, जिसे गीताकी भाषामें उन्होंने 'पुरुषोत्तम' कहा है। किन्तु वह सच्चिदानन्द एक ओर सर्वातीत है तो दूसरी ओर सर्वमय। और वह सर्वोपरि भी है। सर्वान्तर्यामी भी और सबसे परे भी है सबमें ओत-प्रोत भी। वही वह है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है : **एकमेवाद्वितीयम्**। किन्तु यह विश्व जो कुछ भी है उसीका रूप है, सब कुछ वही है : **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**। उस परम तत्त्वका निरूपण भावात्मक, अभावात्मक दोनों प्रकारोंसे किया गया है, किसी प्रकार फिर भी उसकी परिपूर्णताका ज्ञापन नहो हो पाता। यदि 'इति' कहकर उसको लक्ष्य नहीं किया जा सकता, तो 'नेति' कह कर उसे बाधित भी नहीं किया जा सकता।

उस सच्चिदानन्दका बोध, उसका अनुभव चिन्तन-शक्तिसे अथवा मनोमयी चेतनासे सम्भव नहीं। फिर जो भी बोधगम्य है, जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है मिथ्या नहीं है। हमारी चेतनामें भिन्न स्तर हैं। स्थूल शरीर-चेतनासे लेकर सूक्ष्म आत्म-चैतन्यतक जो कुछ जाननेमें आता है, सब यथायुक्त है। निम्नस्तरका बोध उच्चस्तरके बोधसे बाधित नहीं होता, उससे परिष्कृत होता है, पूर्ण बनता है। वस्तुतः अज्ञानमें ज्ञान उसी तरह छिपा है, जैसे कलीमें पुष्पका सौन्दर्य। विद्या ही अविद्याके रूपमें सोयी है। अतः उस परमतत्त्वका ज्ञान हमारी चेतनाके उच्च विकाससे सम्भव है। श्री अरविन्द मानसिक चेतनाका विस्तारपूर्वक विवेचन करके उसका सामर्थ्य और उसकी सीमा दोनोंको ही बताते हैं। चिन्तन, तर्क, कल्पना आदि मनकी शक्तियाँ उस परात्पर तत्त्वका बोध कर ही नही पातीं वे जिज्ञासामयी हो सकती हैं, ज्ञानमयी नहीं। तत्त्वज्ञानके लिए मनोमयी चेतनाको अतिमानसिक चेतनाकी आवश्यकता है, और अतिमानसिक चेतना प्राप्त करनेके लिए आवश्यकता है साधनाकी।

श्री अरविन्दकी साधना भी 'पूर्ण-साधना' कहलाती है। उसे **पूर्णयोग** की संज्ञा दी गयी है। उसमें शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम्—सबकी साधना करनी है। जीवनका कोई भी अंग उपेक्षित नहीं। साधना केवल बाह्य अभ्यास अथवा मनोभावमात्र नहीं। वह तो सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी भगवान्के लिए निरन्तर प्यास है, अनवरत तैयारी है और है उनके प्रति सर्वाङ्गपूर्ण समर्पण !

●

कर्ममें सर्वाङ्गीण पूर्णता

कर्ममें सर्वाङ्गीण पूर्णता तो तभी आ सकती है जब साधकका अतिमानसिक रूपान्तर हो जाये, पर चेतनाके निम्नतर स्तरोंमें भी अपेक्षाकृत अच्छे ढङ्गसे कार्य किया जा सकता है यदि साधक भगवान्के साथ अपना संस्पर्श बनाये रखे तथा अपने मन, प्राण और शरीरमें सजग, सावधान और सचेतन बना रहे। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसी अवस्था है जो साधकको परम मुक्तिके लिए तैयार करती है।

—श्री अरविन्द

शत-शत प्रणाम !

हे प्रभु शरण्य हे कृपाधाम ! शतबार तुम्हें मेरा प्रणाम !
हे वसुन्धराके काम्य परम सपनोंकी तुम साकार पूर्ति
हे उपेक्षिता भारत-मांके वैभवकी परमोज्ज्वल स्फूर्ति
हे परम सत्यकी दिव्य ज्योतिके मंदाकिनी - प्रवाह अमल
हे प्रभु आगत भू-निहित दिव्यताके प्रतीक उत्साह नवल
हे ज्योति-पुरुष हे ज्योति-काम ! शतबार तुम्हें मेरा प्रणाम !
अज्ञात मृत्यु - शासित वसुंधराके हरते अवसाद अतुल
चलरहे जगत्‌का व्यथा - भार ढोते करते संग्राम तुमुल
आक्रान्त विवश जगती-जीवनके हरनेको अभिशाप अमित
तुम स्वयं शंभु कर रहे हलाहल-पान ग्रसित-ज्वाला-जगहित
हे योगेश्वर हे शान्ति-धाम ! शतबार तुम्हें मेरा प्रणाम !
अज्ञान-मृत्यु-शासित अवनी आक्रान्त अवश चिरतमोमग्न
बन्दिनी कंस-कारा-निवासिनी विकल देवकी-सी उन्मन
तुम भेद तमिस्रा स्वयं कृष्ण-से निकले ले वरदान चरम
चिर-याचित मुक्ति दिव्य-जीवनका ले प्रकाश-सन्देश परम
हे दिव्य-ज्योति हे दिव्य-धाम ! शतबार तुम्हें मेरा प्रणाम !
विज्ञान - ज्योतिकी प्रथम किरण लानेवाले प्रभात - मंगल
दारुण पृथ्वीकी गहन तमिस्राका करते विनाश प्रतिपल
आकुल भूके आशा - प्रदीप हे सत्य-सूर्य कारुण्यधाम !
हे दिव्यभावमय अमल अचंचल तपोमूर्ति हे पूर्णकाम !
हे ज्योति-पुरुष हे आप्त-काम ! शतबार तुम्हें मेरा प्रणाम !

—श्री छोटेनारायण शर्मा, एम० ए०—

श्री अरविन्द: एक श्रद्धांजलि

श्री सुमित्रानन्दन पंत

भारतके ऋषियों तथा सत्य-द्रष्टाओंमें श्री अरविन्दका स्थान अत्यन्त उच्च तथा चिर-स्मरणीय रहेगा। विश्वके आध्यात्मिक क्षितिजपर उनका शुभागमन एक अभूतपूर्व अलौकिक स्वर्णोदयके समान हुआ, जिसकी नवीन चेतनाके प्रकाशने मानव-जीवन तथा विश्व-मनकी गहरी-से-गहरी घाटियोंको भी अपने अद्भुत स्पर्शसे उत्फुल्ल तथा आलोकित कर दिया। निश्चय ही श्री अरविन्द मर्त्योंकी इस धरतीपर एक अपूर्व ज्योति-वाहककी तरह विचरण करनेके लिए आये। आजीवन मानव-जीवन और मनकी उच्चसे उच्चतम पर्वत-श्रेणियोंपर चढ़ते रहे और मानव-भावनाओं तथा विचारोंकी अनेक हरी-भरी रंग-बिरंगी शूल-फूलोंकी घाटियोंपर पहुँचे; ज हैं उन्होंने हमारे युगके ध्वंस, संहार, निराशा और विषादसे भरे वातावरणमें नवीन आशाओं और संभावनाओंका रूपहला-सुनहला प्रकाश उड़ेला और जाति-वर्गोंके भेदोंमें विदीर्ण मानवताको एक नवीन, व्यापक तथा सूक्ष्मतम एकताका सन्देश दिया। उन्होंने मानव-मनके गठन तथा विश्वके अन्तर्विधानका जिस सूक्ष्मता तथा मर्मस्पर्शिताके साथ विश्लेषण तथा संश्लेषण किया और उसे एक महान् दार्शनिककी रहस्यभेदी दृष्टि तथा कुशल कविकी अद्भुत कला तथा चमत्कारके साथ वाणी दी, उसे देखकर चकित हो जाना पड़ता है। ज्ञानकी सर्वोच्च चोटीपर पहुँच जानेसे ही उन्होंने सन्तोष नहीं ग्रहण कर लिया। वे मानव-चेतनाके सर्वोच्च प्रकाशकी ज्योति-जाह्नवीको लोककल्याणके लिए धरतीपर अवतरित करनेके भगीरथ-प्रयत्नमें संलग्न रहे। उन्होंने इस लोक और परलोकके भेदको, आध्यात्मिकता और भौतिकताके विरोधको, जगत् और परब्रह्मके बीचकी अज्ञेय, दुर्गम खाईको अपनी नवीन चेतनाके प्रकाशसे सदैवके लिए भर दिया। मानवके भूत और भविष्यका, पूर्व और पश्चिमका, व्यक्ति, विश्व और ईश्वरका इतना व्यापक, इतना गम्भीर विश्लेषण शायद ही और कोई कर सका है।

श्री अरविन्द एक महान् प्रतिभा थे। वे एक महान् दार्शनिक, महान् कवि तथा कलाकार थे। मानव-चेतनाके चरम शिखरपर अवस्थित होकर उन्होंने जहां जीवनके हरित अन्धकारसे भरी घाटियोंकी गहराइयों तथा सतरंगी छायाभावोंमें लिपटी मनकी ऊँची-नीची उपत्यकाओंकी ओर दृष्टिपात किया, वहीं मानव-चेतनाओंके उसपार रजत-शान्तिके आकाशों तथा ज्योतिके असीम प्रसारोंको अतिक्रम कर एवं अपलक नेत्रोंसे शाश्वत सुखके अरूप,

अवर्णनीय सौन्दर्य तथा आनन्दका पान कर, उसे अपनी वाणीके चेतना-पटमें बुनकर मानव-आत्माके लिए एक नवीन परिधानकी रचना की।

श्री अरविन्द मानव-चेतनाके रूपान्तरमें विश्वास रखते हैं। श्री माताजीके शब्दोंमें :

"हम चाहते हैं सर्वाङ्गपूर्ण रूपान्तर, शरीर और उसके सभी क्रियाकलापोंका रूपान्तर। किन्तु इसका एक प्रथम पग है, जो पूर्ण रूपसे तथा अन्य सभी चीजोंको प्रारम्भ करनेसे पहले पूरा करना होगा, और वह है चेतनाका रूपान्तर।···कहा जा सकता है कि चेतनाका यह परिवर्तन अकस्मात् होता है। जब यह होता है तब वह एकाएक हो जाता है, मानो बहुत धीरे-धीरे और दीर्घकालसे उसके लिए तैयारी हो रही हो। मैं यहाँ मानसिक दृष्टिकोणसे होनेवाले किसी सामान्य परिवर्तनकी बात नहीं कहती, बल्कि स्वयं चेतनाके ही परिवर्तन की बात कह रही हूँ। वह एक प्रकारसे पूर्ण और विशुद्ध परिवर्तन है, आधारभूत स्थितिमें ही होनेवाली एक क्रान्ति है। यह प्रायः ऐसी ही चीज है, जैसे गेंदको भीतरसे बाहरकी ओर उछाल देनेकी बात।··· साधारण चेतनामें तुम धीरे-धीरे चलते हो, एकके बाद एक करते हुए चलते हो। अज्ञानसे किसी सुदूर स्थिति और यहाँतक कि संदिग्ध ज्ञानकी ओर जाते हो। पर रूपान्तरित चेतनामें तुम ज्ञानसे आरम्भ करते हो और ज्ञानसे ज्ञानकी ओर अग्रसर होते हो। फिर भी यह है आरम्भ ही, क्योंकि बाहरी चेतना, बाहरी और क्रियाशील सत्ताके विभिन्न स्तर और अंश एक भीतरी रूपान्तरके फलस्वरूप केवल धीरे-धीरे और क्रमशः ही रूपान्तरित होते हैं।"

अविश्वास, सन्देह, संघर्ष तथा हाहाकारसे भरी हमारे युगकी पृथ्वीपर श्री अरविन्द एक अदम्य विश्वासके जाज्वल्यमान स्वर्णस्तम्भकी तरह ऊपर उठे और अपने अलौकिक ऐश्वर्यसे अपने युगको मुग्ध कर गये। उन्होंने अपने आत्ममधुर मर्मभेदी शब्दोंमें हमें सन्देश दिया कि **मानव-चेतना विकासके पथमें है। मनका बोध ही सम्पूर्ण बोध नहीं। निर्दिष्ट समयमें यह मनुष्य देवता और यह पृथ्वी भगवान्‌के सौन्दर्य और मधुरिमाकी छाप बन जायगी।** ऐसे महान् और स्वर्गीय स्वप्नोंके अन्तर्द्रष्टा रहे हैं योगिराज श्री अरविन्द! उनका योग केवल व्यक्तिगत मुक्तिके लिए नहीं, सामूहिक मुक्तिके लिए था। वह मानव-मनके टिमटिमाते प्रकाशको उसकी अन्तश्चेतनाके पूर्ण प्रकाशमें मुक्त तथा विकसित करनेके लिए था।

पूर्व और पश्चिमके महान् विद्वान् तथा विचारक उनकी ओर समान रूपसे आकृष्ट हुए और उन्होंने उन्हें अनेक रूपोंमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की हैं। डॉक्टर **रवीन्द्रनाथ ठाकुरने** उनके विषयमें लिखा है :

'प्रथम दृष्टिमें ही मुझे यह प्रतीत हो गया कि वे आत्माके अनुसंधानमें रत रहे हैं और उन्होंने उसे प्राप्त भी कर लिया है। अपनी दीर्घ तपस्साधनासे उन्होंने एक ऐसी शक्ति संचित कर ली है जो दूसरोंको प्रभावित कर उनमें दिव्य प्रेरणा भर सकती है। उनका मुख अन्त-ज्योतिसे आलोकित था। उनकी उज्ज्वल पवित्र उपस्थितिसे मेरे मनमें यह बात स्पष्ट हो गयी कि उनकी आत्मा किसी ऐसे निर्दय नैतिक सिद्धान्तके संकीर्ण घेरेमें बँधी नहीं है

जिसे आत्म-पीड़नमें आनन्द मिलता है। मुझे लगा कि भारतीय ऋषियोंकी विराट् साम्य और विश्वकी भावना उनके भीतरसे फिरसे वाणी पा रही है। मैंने उनसे कहा कि आपके पास शब्द हैं और हम दीक्षा लेनेको तैयार हैं। भारतवर्ष आपकी ही वाणीमें संसारसे बोलेगा।''

दूसरे स्थानमें डॉ० ठाकुर उनको संबुद्ध कर लिखते हैं :

अरविंद, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार !
हे बंधु, हे देश बन्धु, स्वदेश आत्मार वाणीमूर्ति तुमि !
वंधन पीड़न, दुःख असम्मान माझे
हेरिया तोमार मूर्ति, कंपे मोर बाजे
आत्मार वंधनहीन, आनंदेर गान,
महातीर्थ-यात्रीर संगीत, चिर प्राण
आशार उल्लास, गंभीर निर्भय वाणी
उदार मृत्युर ! भारतेर वीणा-पाणि,
हे कवि, तोमार मुखे राखि दृष्टि तार
तारे-तारे दियेछेन विपुल झंकार
ऐ उदात्त संगीतेर तरंग मझार
अरविंद, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार !

रोमां रोला ने 'इण्डिया आन दी मार्च' में श्री अरविन्दके संबंधमें लिखा है :

'पूर्व और पश्चिमकी प्रतिभाका आजतकका सर्वांगपूर्ण संश्लेषण श्री अरविन्दमें मिलता है।'' आगे चलकर वे कहते हैं : 'श्री अरविंद अंतिम महान् ऋषि हैं, जो अपने हाथके दृढ़ अशिथिल पाशमें सृजनशक्तिका संकेत लिये हुए हैं।''

श्री अरविन्द निस्संदेह संसारके एक महान् अमर महापुरुषकी तरह चिरस्मरणीय तथा वंदनीय रहेंगे। वे महान् मनीषी, विराट् प्रतिभाशाली सत्यद्रष्टा हुए, जिन्होंने मानव आत्माकी अस्पृश्य-अदृश्य चोटियोंको प्रकाशमें लाकर मानवके ज्ञानभण्डारकी ही अभिवृद्धि नहीं की, प्रत्युत मानव-जीवनकी मान्यताओंको भी अधिक ऊर्ध्व, गहन तथा व्यापक बनाकर व्यक्ति, विश्व और परमात्मसम्बन्धी हमारी प्राचीन धारणाओंको एक नवीन अर्थ-गौरव, नवीन सौंदर्य-बोध तथा एक नवीन एवं अलौकिक आनन्द प्रदान कर दिया।

श्री अरविन्द निस्सन्देह मानव-भविष्यके दार्शनिक हैं। ज्यों-ज्यों हमारे युगके वातावरणमें सामंजस्य आता जायगा, श्री अरविन्दकी ओर विश्वके विचारक तथा समाजके शिल्पी अधिकाधिक आकृष्ट होंगे और उनका महान् दर्शन मानव-जातिके लिए एक चिरंतन प्रेरणाका स्रोत बन जायगा। मैं श्री अरविन्दको इन थोड़े-से शब्दोंमें श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ :

१.

श्रद्धांजलि अर्पित करता मन,
हे मनुष्यताके उन्नायक।
जगजीवनके महायज्ञमें
आर्त मानवताके नव-पावक।
लोक अभीप्साकी आहुति पा,
स्वर्ग शिखासे उठे प्रज्ज्वलित।
देवधराके अंधकारको,
स्वर्ण प्रातमें करने दीपित।

२.

महाकाल ओ महादिशा ज्यों
सहम उठे छवि देख अलौकिक।
रूपांतरित हुए विमुग्ध त्रिभुवन
भौतिक, मानस, आध्यात्मिक।
निखिल व्यक्त-अव्यक्त, सकल
सीमा-असीम लय हुए विमोहित।
पुनः देवमें स्वयं परमको
देख दिव्य आभामें मूर्तित।

३.

जीवन मनके मान गल गये,
मिटीं पूर्णताएँ अपूर्ण बन।
अल्प मनुजके स्वल्प राज्य,
धुल गये कुहासेसे डरके घन।
अतिमानसके ज्वलित स्वर्ण
दर्पणमें सहज विलोक प्रतिफलित।
शुभ्र भागवत जीवनका
भू-स्वर्ग अतीन्द्रिय इन्द्रिय-शोभित।

४.

धन्य अवनि, अवतरित हुए
जो तुम अतिमानव लोक-विधायक।
जन-मनके चिर कुरुक्षेत्रके
युग-सारथि क्रममें अतिनायक।

('अर्चना'से संकलित)

श्री अरविन्दका सन्देश :

विकासकी 'गुरु-किल्ली'

डॉ० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'

☆

श्री अरविन्दका सन्देश बड़ा ही सरल और सुस्पष्ट है। जो कुछ उन्होंने कहा है, उसका सारांश इतना ही है कि मानवको अपनी चेतनामें अधिकाधिक विकास करते जाना है जबतक कि वह पूर्ण एवं समग्र चेतनाको अधिगत नहीं कर लेता—अपने व्यष्टि-रूपमें ही नहीं, वरन् समष्टि-रूपमें भी अर्थात् सामाजिक जीवनमें भी। वास्तवमें चेतनाका विस्तार एवं विकास ही जीवका परम एवं चरम रहस्य है, पार्थिव विकासकी 'गुरु-किल्ली' (Master-key) है।

श्री अरविन्द विकासमें विश्वास करते हैं। उनके मतसे इस सृष्टिका एक लक्ष्य या उद्देश्य है और मानव निरन्तर उसी लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा है। यह विकासका अधिकाधिक उद्घाटन नहीं तो और क्या है? आरम्भमें सब कुछ जड़ था, निर्जीव जड़। आगे चलकर जड़में चेतनाका, जीवनका सन्निवेश हुआ। जो कुछ जड़ और निष्प्राण प्रतीत हो रहा था, वह सजीव हो उठा। इससे उद्‌भिज्ज-जीवनका स्फुरण हुआ, चेतनाका आरम्भिक आस्फालन और विस्फूर्जन। निश्चय ही यह चेतना अस्पष्ट, अन्ध, व्यवहारतः अचेतन ही थी, फिर भी इसमें नवजागृत स्फूर्तिका स्पन्दन था। इसके बाद चेतनका विकास पशु-जीवनमें देखा गया। यहाँ चेतना स्पष्ट, उन्मुक्त और अपेक्षाकृत अधिक विकसित है। इसके आगेका मानस लोक, स्वतः-स्फूर्त चिन्तन। यहीं मानवका उद्‌भव हुआ—चिन्तन, विचार-बुद्धि, विवेकका उदय हुआ। पूर्ण जाग्रत् चेतना—वह चेतना जो स्वयं अपने-आपपर विचार कर सकती है। यही है मानव चेतनाकी विशेषता!

ये हैं चेतनाके क्रमिक विकासके स्तर। इसे सभी देखते और स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जड़-तत्त्व, जीवन-तत्त्व, मानस-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व—क्रम-विकासका यह ढङ्ग श्री अरविन्दने माना है। ये परस्पर अविच्छिन्न अखण्ड एककी विभिन्न स्थितियाँ हैं—एक दूसरेसे असंपृक्त। किन्तु मूलमें सत् है, क्योंकि **नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः**। यदि जड़के अन्दरसे जीवन प्रकट हुआ तो इसका तात्पर्य है कि जड़के अन्दर जीवन छिपा हुआ था। जड़ चेतनाको अपने गर्भमें छिपाये हुए था, जीवन उसके अन्दर सोया हुआ

था। विकास उसी तत्त्वका होता है, जो पहलेसे विद्यमान होता है। इसी प्रकार जीवनसे मनस्‌का उदय हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि जीवनमें मनस्तत्त्व पहलेसे विद्यमान था। इस तरह जड़से मनस् तक एक अविच्छिन्न श्रृंखला है—प्रच्छन्न या प्रकट। अतएव सत्ताके मूलमें है चेतना। जड़ और कुछ नहीं है, यह है चेतनाका अचेतनावृत रूप। इस प्रकार यह समस्त सृष्टिविधान है चेतनका, अधिकसे अधिकतरका स्फुरण और अभिव्यक्ति। जड़में जीवन, जीवनमें मनस्, मनस्‌में विवेकका उदय होनेपर उसके पूर्वाचारमें सहज ही परिवर्तन एवं चैतन्यका विकसित रूप अभिव्यक्त हुआ। जड़, जीवन और मनस् ही क्रमशः भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान और मनोविज्ञानके अनुशीलनके क्षेत्र हैं।

श्री अरविन्द कहते हैं : विकासकी यह प्रगति मनस्‌को पाकर अतिमानसको अभिभूत करेगी और संसारमें एक नया समाज बनेगा, जिसका आधार अतिमानसिक होगा। पत्थरसे उद्‌भिज्ज, उद्‌भिज्जसे पशु, पशुसे मनुष्य और मनुष्यसे अतिमानस अर्थात् देवताका आविर्भाव अवश्यंभावी है। चेतनाका विकास अभी तक मनस्‌तक ही हो पाया है, किन्तु इसके अन्दरसे भावी विकासकी पूर्णतम कल्पना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार बन्दरके लिए यह कल्पना कठिन थी कि उसकी अगली पीढ़ीमें मनुष्य आनेवाला है। लेकिन आज मनस्‌के अन्दर अतिमानसका प्रकाश और चाप दिखायी पड़ने लगा है। चिन्तनसे आगे बढ़कर हम लोग अब 'प्रज्ञा' (Intution) का सहारा लेते हैं, जिसका अवलम्बन आजके वैज्ञानिक और गणितशास्त्री अपनी शोधों और अनुसन्धानोंके लिए लेते हैं। एक और भी तत्त्व है, जिसे हम 'प्रेरणा' (Inspiration) कहते हैं और जिसके प्रकाशमें कविके समक्ष आनन्द और सौन्दर्यका एक ऐसा लोक उद्‌घाटित हो जाता है जो सामान्य जनके लिए अदृश्य, अलभ्य है और फिर मानव-विकासकी पराकाष्ठापर आज भी आत्मदर्शी सन्त क्रांतदर्शी ऋषि हैं, जो सत्यका साक्षात्कार करते हैं, स्पष्टतः सत्यको अधिगत करते हैं 'तादात्म्य' (Iaentification) द्वारा। इस प्रकार चेतनाके विभिन्न स्तरोंका हमने आकलन किया। निश्चय ही यह तर्कसे परेका क्षेत्र है।

किन्तु मनुष्यका अभीतक चेतनाके इन उच्च स्तरोंपर पूरा-पूरा अधिकार नहीं है। ये मनुष्यकी स्वभावगत चेतनाकी पकड़से परे हैं। आते हैं और स्वेच्छया चले जाते हैं। लगता है, ये किसी अन्य लोककी संपदा हैं जिनपर हमारा कोई वश नहीं चलता क्वचित्, कदाचित् वे अपने आनन्ददायक दर्शनसे हमें कृतार्थ करते नजर आते हैं। वे हमारी पुकार नहीं सुनते और न हमारे अनुरोधपर उपलब्ध ही हो पाते हैं। ठीक इसके विपरीत अतिमानस उस चेतनापर पूरा अधिकार रखता है जिसकी छायामात्र ये तत्त्व हैं। अतिमानव (देव) का आविर्भाव तब होगा, जब मानव अपने मानस-लोकसे ऊपर उठकर अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश कर उसे अपने अधिकारमें कर लेगा।

यहाँ एक बातकी चर्चा आवश्यक है। वह यह कि मनुष्य सावचेत होकर अपनी सीमाओंका अतिक्रमण कर अतिमानवरूप लेगा—मनुष्यसे देवता बनेगा अपने स्वयंके प्रयत्नोंसे, अपने जाग्रत् संकल्पके श्रमसे। अबतक विकास स्वतःस्फूर्त क्रिया थी, जिसपर जीवका कोई वश या

अधिकार न था। वह धीरे-धीरे स्वतः एकसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें विकसित प्रस्फुटित होता गया। मनुष्य पशुसे मानव बना, सहसा एक दिन उसने अपनेको मानवरूपमें पाया। स्वयं इसके लिए अपनी ओरसे उसने कोई प्रयत्न नहीं किया, कोई साधना नहीं की। पशुको इस परिवर्तनका पता न था कि वह मानव होनेवाला है। जिस तरह उद्भिज्जसे पशु स्वतः हुए, अनायास अपनी ओरसे विना प्रयास ही; ठीक ऐसे ही जड़ पदार्थोंसे वृक्ष,लता,गुल्म, ओपधियाँ हुई अपने आप, अनायास, एक सुदीर्घ, एक लम्बी विकास-प्रक्रियामें। किन्तु अव मानव-चेतना सर्वथा आत्मचेतन हो गयी है, इसलिए अव आगेका विकास इसे स्वयं अपनी सुचिन्तित-सुनिश्चित शक्ति-साधनासे सम्पन्न करना है। यह है आत्म-रूपान्तर (Self Transfor-malion) की प्रक्रियाकी साधना। इस प्रक्रियाकी एक सुनिश्चित पद्धति है, शैली है, प्रक्रिया प्रविधि (Technivue) है। इसकी सर्वथा अपनी स्वतन्त्र प्रणाली है। सभी शिक्षाओंका चरम और परम लक्ष्य है चेतनाका विकास, उसका संस्कार और रूपान्तर। इसकी चरम परिणति, इसकी परम परिपूर्णता है योग द्वारा तत्त्वदर्शीका आत्मानुशासन।

संक्षेपमें कहना यह है कि अव प्रकृतिका लक्ष्य और मानवका आदर्श है चेतनाका विकास एवं विस्तार। दूसरे शब्दोंमें अतिमानसीकरण (Supramentalisation), क्योंकि यही है विकासकी दिशामें प्रकृति और मानवका अगला कदम। मानव बीचकी और बड़ी ही संश्लिष्ट कड़ी है। मानवतक तो विकासकी प्रक्रिया सुदीर्घ, परन्तु स्वचालित विकासकी प्रक्रिया चलती रही। किन्तु मानवको अपना अगला कदम स्वयं अपने प्रयत्न एवं अध्यवसाय तथा निष्ठाके साथ बढ़ाना है; क्योंकि विकासकी प्रक्रियामें रूपान्तरका यह दिव्य अनुष्ठान मानवको स्वयं सम्पन्न करना और उसे हस्तगत करना है। अभीतक जो कुछ पर्देमें अज्ञानतः हो रहा था, उसे अव खुले रूपमें, पर्देके बाहर ज्ञानतः करता है। इसमें स्वतः कालका लघूकरण पहला परिणाम होगा। शताब्दियोंका काम एक वर्पमें, कई जन्मोंका काम एक जन्ममें सम्पन्न होगा। दूसरा परिणाम यह होगा कि जब अतिमानस अपने आपको अधिष्ठित कर लेगा तो अज्ञान रह ही नहीं जायगा। सब कुछ ज्योति और ज्ञानसे ओत-प्रोत, सरावोर हो जायगा—ज्ञान और प्रकाश ही रह जायँगे, सर्वत्र और सर्वथा। अबतक विकासके जिस मानस-लोकतक मानव पहुँचा है, वहाँ प्रकाश और अन्धकारका संमिश्रण है, ज्ञान-अज्ञानकी मिलावट है। इस स्तरतक सन्देह, अनिश्चितता, आंशिक संवेदनका साम्राज्य है—जैसे मानव अन्धकारमें टटोल रहा हो, एक विपम परीक्षाकी आँचमें तपाया जा रहा हो और अधिकसे अधिक निविड़ अन्धकारसे कुछ हलके झीने अन्धकारकी ओर बढ़ रहा हो। अतिमानसके संप्रतिष्ठानसे यह सब कुछ बदल जायगा। अतिमानव देवत्वकी संसिद्धि हस्तगत कर निरन्तर प्रकाशमें रहेगा। परम दिव्य-चेतनामें उसका अवस्थान होगा और परम दिव्य-ज्ञानकी ज्योतिमें उसके समस्त कर्म होंगे। वह प्रकाशसे अधिक प्रकाशकी ओर, ज्ञानसे अधिक ज्ञानकी ओर संसरणशील होगा; आजकी भाँति विभाजन और दुविधामें वह नहीं रहेगा। हाँ, निश्चय ही एकाएक छलांग मारकर मनुष्य इस अति-मानव-स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा। मनस् और अतिमानसके बीचकी चट्टियाँ उसे मिलेंगी। इन चट्टियोंको श्री अरविन्दने अधिमानस (Overmind) तथा ज्ञान-मनस् (Mind of light)

श्री अरविन्द-आश्रम : एक विश्व संस्कृति-केन्द्र

श्री गोपाल

★

एक विशाल वृक्षकी स्निग्ध-शीतल छायामें धवल सात्त्विकी मरमरी-पीठिका, उसपर रंग-विरंगे पुष्पोंका नित्य-नया विन्यास, प्रत्येक पुष्पकी अपनी आभा, अपना रंग अपनी विशेष आकृति, विशेष सौरभ, उसका विशेष सौन्दर्य, उसकी विशेष चेतना—सब मिलकर एक साथ सुव्यवस्थित, सब स्वस्थ, सब प्रसन्न, सब शान्त, एक दिव्य वातावरणसे मंडित ! यह है श्री अरविन्द आश्रमके केन्द्रीय आँगनमें श्री अरविन्दकी समाधि । यहां विराजती हैं एक दिव्य शान्ति, एक दिव्य चेतना । यहाँ प्रवाहित होती है दिव्य जीवनके लिए उच्चाति-उच्च प्रेरणाकी गंगा, जिसमें अवगाहन करके नित्य-नयी स्फूर्ति मिलती है ।

यही समाधि है श्री अरविन्द-आश्रमके सम्पूर्ण विशाल विस्तारका केन्द्र; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दीपक होता है केन्द्र अपने आलोक-क्षेत्रका । इस समाधिपर दर्शन होता है सम्पूर्ण आश्रमकी व्यवस्थाका, विस्तारका, अद्भुत सम्भावनाओंका । समाधिका प्रत्येक पुष्प मानो आश्रमके एक-एक साधकका प्रतिनिधि हो । उस पुष्पका क्षण-क्षण साधनामय जीवनकी कथा है । उस पुष्पके हृदयमें निहित है प्रकृति-माताकी एक अभीप्सा, जो सदा-सदा भगवान्‌के लिए जगी रहती है; उनकी आराधनाके लिए नित्य-नया जन्म लेती है और परमानन्दस्वरूप भगवान्‌के

अभिहित किया है । परन्तु इन दोनों चट्टियोंपर मनस्-लोकको पार करनेपर ही पहुँचा जाता है । ये प्रकाशमय लोक हैं, अतिमानसके अपने प्रतिनिधि !

अतिमानसिक चेतनाका लोक पूर्णतम ज्ञानका लोक है । चिन्तन और सदसद्विवेकसे उत्पन्न ज्ञान नहीं; प्रत्युत आप्त ऋत तत्काल अखण्ड, सुनिश्चित और परात्पर ज्ञान । यह ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेयकी अभिन्नतासे उद्भूत है, अतएव यहाँ ज्ञानका अर्थ है आत्मज्ञान । यहाँ संकल्प भी किसी इच्छा या कामनासे उत्पन्न आकांक्षा मात्र नहीं है, वह है सहज रूपमें चेतनाकी आत्मशक्ति । यहाँ संकल्पका अर्थ है, संसिद्धि । यह पूर्ण आनन्दका लोक है; क्योंकि आँसुओंका संसार पारकर उस अमर शान्तिमें हम प्रवेश कर जाते हैं, जो सर्वथा अनिर्वचनीय है । यहाँ पहुँचनेपर हम अनुभव करते हैं कि सृष्टिके मूलमें है आनन्द और सत्यका सत्य है निरतिशय आनन्द । दूसरे शब्दोंमें यह सत्-चित्-आनन्दका लोक है !

●

दिव्य सौन्दर्यकी मुस्कान बनकर संदेश देती है कि 'वे स्वयं इस पार्थिव-जीवनमें रमे हैं, छिपे हैं और प्रकट हो-होकर दिव्यताका दर्शन कराते हैं।' यही है वह आलोकमयी दृष्टि जिससे आश्रमके प्रत्येक साधककी विशेषताको, उसकी क्षमताको, योग्यताको और विशाल विश्वजीवनमें उसकी अपनी सार्थकताको यहाँ देखा जाता है और एक जीवनव्यापी योग-साधनाके लिए उसे नियोजित किया जाता है।

सभी प्रकारके फूलोंका श्री अरविंद-आश्रममें विशेष महत्त्व है। प्रत्येक फूलको वहाँ उसके प्रचलित नामके अतिरिक्त श्री माँने ऐसा नाम दिया है, जिसमें एक आध्यात्मिक संकेत है, आन्तर जीवनको प्रेरित करनेके लिए एक संदेश है, प्रकृतिकी ऊर्ध्वमुखताका रहस्य उसमें प्रस्फुटित है। रक्तिम गुलाबको 'दिव्य-प्रेम' कहा जाता है तो बेलाको 'पवित्रता'। रजनीगंधा 'नव-सृष्टि' है तो गेंदा है 'सुनम्यता'। चम्पा 'पंचविध परिपूर्णता' है तो पारिजात है 'अभीप्सा' और तुलसी है 'भक्ति'। ये सब फूल-पत्तियाँ वनस्पतिमात्र नहीं है, उनका रंग-रूप, सुरभि और विन्यास आध्यात्मिक जीवनके विशेष-विशेष गुणोंके मूर्तरूप हैं। पुष्पोंका प्रयोग और आदान-प्रदान योगकी भाषाका काम देता है।

श्री अरविंदकी समाधिके पास आत्म-निवेदनशील साधकवृन्द, श्रद्धालु भक्तजन तथा तीर्थयात्री प्रणामके लिए आते रहते हैं—सभी शान्त, सभी मौन! उसके चारों ओर स्वच्छ और सुगंधित वातावरणमें ध्यानमग्न मानव-मूर्तियाँ आन्तर जीवनकी गहराइयोंमें उतरती दिखायी पड़ती हैं। कैसा भी अपरिचित व्यक्ति समाधि-दर्शनके लिए क्यों न जाय, वह स्वतः वहाँ शान्त और मौन हो जाता है। सभी देशों, सभी धर्मों, सभी वर्गोंके व्यक्ति वहाँ आते हैं और एक अनिर्वचनीय शान्तिका अनुभव करते है।

समाधिके समीप स्थित है, वह धन्यकक्ष जिसमें श्री अरविंदने पूर्णयोगकी वर्षों-वर्षों साधना की। सन् १९२६ के पश्चात् १९५० तक वे उस कक्षके बाहर आये ही नहीं। आज भी वर्षमें चार दिन (२१ फरवरी : श्री माँकी जन्मतिथि, २४ अप्रैल : श्री माँका स्थायी रूपसे आश्रममें आगमन, १५ अगस्त : श्री अरविंदकी जन्मतिथि एवं २४ नवम्बर : श्री अरविंदका सिद्धि-दिवस) आश्रममें दर्शन-दिवसके रूपमें मनाये जाते हैं, जिनपर श्री माँका दर्शन सुलभ होता है और श्री अरविन्द-कक्षमें मौन-प्रवेशका सौभाग्य प्राप्त होता है।

यह आश्रम आध्यात्मिक जीवनकी एक प्रयोगशाला है, जहाँ साधना और योगका लक्ष्य मानवकी अज्ञान और अन्धकारसे भरी चेतनाको पार्थिव-जीवनसे ऊपर उठाकर किसी दिव्य चेतनामें पहुंचा देनामात्र नहीं, बल्कि दिव्य अतिमानसिक चैतन्यके प्रकाश और सामर्थ्यसे इस पार्थिव जीवनका रूपान्तरण कर डालना है, जिससे यहाँका अज्ञान, अन्धकार और असमर्थता सदा-सदाके लिए मिट जायँ तथा मानवका लौकिक जीवन स्वयं एक अलौकिक दिव्यतासे भर जाय।

अतः विश्वकी संस्कृतियाँ, उनमें अर्जित मानवका अबतकका ज्ञान-विज्ञान, उसकी काव्य-कला-संगीतकी भावमयी उपलब्धियाँ, उसके शिल्प-कौशलकी सृजनात्मक निपुणताएँ व्यष्टि-समष्टि, सह-जीवनकी समस्त लोक-व्यवस्थाएँ जहाँतक मानवको ले आयी हैं उनसे भविष्यकी

दिव्य सम्भावनाओंकी ओर बढ़नेका वह प्रयोग, जिसके फलस्वरूप समस्त संस्कृतियोंकी एक अभूतपूर्व परिपूर्णता सम्पादित होगी—ऐसी परिपूर्णता, जिसमें प्रत्येक संस्कृति अपने वैशिष्टचसे अन्यान्य संस्कृतियोंकी पूरिका बनेगी। स्पष्ट है कि भविष्यकी सर्वांगपूर्ण संस्कृति विश्व-मानवकी ऐसी संस्कृति होगी जिसमें मनुष्यकी बुद्धि, उसका हृदय और उसका संकल्प अपनी अवतककी सीमाओंसे ऊपर उठकर अतिमानवीय बोध, प्रज्ञा, प्रेम और सामार्थ्यसे भर जायेंगे।

श्री अरविन्द-आश्रमका एक अभिन्न अंग है श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र जो पिछले उन्नीस वर्षोंसे शिक्षा-जगत्‌में एक अपूर्व प्रयोग कर रहा है। वहाँ शिक्षाका लक्ष्य है, व्यक्तित्वका सर्वांगपूर्ण विकास और दिव्य जीवनके लिए तैयारी। इस शिक्षा-केन्द्रमें नन्हें शिशुओंसे लेकर वयस्कतक शिक्षार्थी हैं, जो अपनी-अपनी क्षमता, योग्यता, अभिरुचि और प्रचेष्टाके अनुरूप शिक्षा पा रहे हैं। यहाँ शिक्षाकी व्यवस्था, पद्धति, योजना, सब कुछ मौलिक है, अभूतपूर्व है। प्रत्येक शिक्षार्थीके शारीरिक विकासके लिए व्यायाम-क्रम, खेल-कूद, जिमनीस्टिक, योगासन, तैरने आदिकी इतनी अच्छी व्यवस्था है और उसके लिए ऐसा स्वाभाविक प्रोत्साहन है कि प्रत्येक शिक्षार्थी एक खिले हुए फूलके समान दिखायी पड़ता है। प्राणगत विकासके लिए स्वास्थ्य-संयमसे युक्त सबकी दिनचर्या है। मानसिक विकासके लिए ज्ञान-विज्ञानके अध्ययनकी ऐसी व्यवस्था है जिसमें कला, विज्ञान आदि सभीका निर्बाध समावेश है। बौद्धिक और आत्मिक विकासके लिए दर्शन, साहित्य, योग आदिके स्वाध्यायकी सुव्यवस्था है। यहाँकी शिक्षा-पद्धतिका नाम है 'स्वतन्त्र-प्रगति-पद्धति'। किसी भी शिक्षार्थीको किसी अनिवार्य विषयमें बाँधा नहीं जाता और किसी भी विषयकी संकुचित, नियंत्रित सीमामें उसे भींचा नहीं जाता। जो विद्यार्थी जिस दिशामें जितनी प्रगति कर सके, उन्मुक्त रूपसे करे। विश्वकी प्रायः सभी भाषाओंका वहाँ अध्ययन संभव है। प्रत्येक बालककी मातृभाषा उसका माध्यम हो, यह चेष्टा होती है। प्रत्येक बालक स्वभावतः कई भाषाएँ सीख लेता है। हिन्दी, फ्रेंच, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला प्रायः सभीको आती हैं।

आश्रमका एक विशाल पुस्तकालय है, जिसमें विभिन्न भाषाओंमें विविध विषयोंकी लगभग डेढ़ लाख पुस्तकें हैं। प्रातः ७ बजेसे रात्रिकालतक वहाँ अध्ययन-रत शिक्षार्थी और शिक्षक पुस्तकालयका लाभ उठाते हैं। अनेक बार एक-एक, दो-दो विद्यार्थियोंके साथ शिक्षकगण ग्रन्थावलोकन करते और अध्ययनका निर्देश देते हैं। पुस्तकालयका सम्पूर्ण वातावरण ही अध्ययनके संस्कारोंसे भरा हुआ है।

आश्रमकी एक विशाल नाटच-शाला है जहाँ समय-समयपर नाटच, अभिनय, नृत्यादिके कार्यक्रम होते रहते हैं। उसमें भारतीय संगीत एवं नृत्य-नाटचके कार्यक्रम जिस दक्षतासे होते हैं, उसी निपुणतासे विदेशी 'बैले' भी होते हैं। ये सब कलात्मक कार्यक्रम केवल किसी पचरङ्गी मनोरञ्जनके लिए नहीं, सृजनात्मक सौन्दर्य-बोधके विकासके लिए होते हैं।

आश्रमकी एक चित्रशाला है 'आर्ट-गैलरी'। यहाँ विभिन्न शैलियोंकी कलाकृतियाँ तो देखनेको मिलती ही हैं, चित्रकलाके नये-नये प्रयोग भी होते रहते हैं। शिक्षार्थियों और साधकोंकी कला-साधनाके लिए यहाँ चित्रकारीको उच्च चेतनाकी अभिव्यक्तिका माध्यम मानकर चित्रां-

कनका अभ्यास होता रहता है। उससे एक सामंजस्यपूर्ण कला-संस्कार तो होता ही है, सृजनात्मक सांस्कृतिक प्रगति भी होती है।

आश्रमके कुछ और भी ऐसे विभाग हैं, जिनका सम्बन्ध सूक्ष्म सौन्दर्यवृत्ति और कलात्मक सृजनसे है। उनमेंसे सुगन्ध-शाला, सिलाई-कढ़ाई आदि बड़े प्रगतिशील विभाग हैं। इनका सम्बन्ध ऐन्द्रियिक सुरुचि और उनके सूक्ष्म परिष्कारसे है, जिससे हमारी चेतना सात्त्विक दिशासे दिव्य सौन्दर्यकी ओर उठती है।

श्री अरविन्द-आश्रमका विस्तारसे वर्णन किया जाय तो मानो एक नये लोकका ही वर्णन हो जायगा। वह प्रचलित आश्रमोंसे सर्वथा भिन्न एक विशाल संस्थान है, एक विशाल जीवनशाला है जिसके अन्तर्ग पचासों विभाग हैं। प्रत्येक विभागको 'सर्विस' अथवा सेवायोग कहा जाता है। कृषिक्षेत्र, बाग-बगीचे, गोशाला एवं दुग्धशाला, अन्तरराष्ट्रिय शिक्षा-केन्द्र, लघु-उद्योगशाला, कागजे-निर्माण उद्योग, विशाल-मुद्रणालय—जिसमें हिन्दी, संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया तथा अन्यान्य कई भारतीय भाषाओंमें तथा अँग्रेजी, फ्रेंच, और जर्मन (विदेशी) भाषाओंमें मुद्रण होता है, फर्नीचर तथा लकड़ीका काम, हौलो ब्रिक्स तथा टाइल्स, इन्जीनियरिंग वर्कशॉप, आटोमोबाइल हैण्डलूम उद्योग, बेकरी, लाउंड्री, विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियोंसे परिचालित चिकित्सालय, शुश्रूषा-गृह आदि अनेकानेक विभागों और सेवायोगों द्वारा संचालित यह आश्रम अपने आपमें स्वावलम्बी है। यहाँ प्रत्येक कार्य साधना है, योग है।

प्रायः सभी देशोंके साधक यहाँ मौजूद हैं। उनकी वेश-भूषा, उनकी भाषा, उनके संस्कार अपने-अपने हैं, भिन्न-भिन्न हैं; किन्तु वे सब एक दिव्य और सर्वांगपूर्ण योगके साधक हैं जिसके नाते समस्त बाह्य भेद आध्यात्मिक ऐक्यमें इस प्रकार गुँथे हैं जैसे किसी गुलदस्तेमें रङ्ग-बिरङ्गे फूल और पत्तियाँ। हम यदि अपने जीवनके समस्त परिष्कारोंको अपनी संस्कृति कहें, तो श्री अरविन्द-आश्रम एक ऐसा संस्कृति-केन्द्र है जो मानवमात्रको भविष्यकी दिव्य उज्ज्वलताके प्रति प्रेरित करनेमें समर्थ है।

श्री अरविन्द-आश्रमका यह समस्त विकास हुआ है श्री माँकी दिव्य उपस्थितिसे, प्रबुद्ध प्रेरणासे और अलौकिक कार्य-कौशलसे। वे ही समस्त आश्रमकी संचालिका, उसकी अधिष्ठात्री देवी हैं जिनके प्यारसे, प्रोत्साहनभरी प्रेरणासे और अद्भुत शिक्षणसे यह विशाल आश्रम अपने वर्तमान विकासको प्राप्त कर सका है और मानव-समाजके लिए एक आदर्श उदाहरणके रूपमें खड़ा है।

श्री अरविन्द-आश्रमके कारण आज पाण्डिचेरी एक ऐसा तीर्थस्थान बन गया है जहाँ योग और अध्यात्मके साधकोंके लिए, शिक्षार्थियों, शिक्षकों और शिक्षाशास्त्रियोंके लिए, कार्य-कौशलके आकांक्षियोंके लिए, लौकिक जीवनके व्यवस्थापकोंके लिए समान रूपसे आकर्षणका केन्द्र है जहाँ सभीको उज्ज्वल प्रकाश और अद्भुत प्रेरणा मिल सकती है।

●

वेदान्तीकी प्रार्थना

[श्रीअरविंदकी एक कविताका अनुवाद]

हृदय - गुहाकी नीरवतामें ध्यानमग्न हे पुरुष परम !
एकमेवाद्वितीय है तू, हे हे शाश्वत - ज्योति चरम !!
हा, फिर क्यों इस अंधकारका चढ़ा हुआ है मुझपर रंग,
छा डाला घनघोर घटाने सुप्रकाशमय मेरा अंग ?
क्यों इच्छाके हाथों इस विध रूप कुरूप हुआ मेरा,
वंदर बन मैं नाच नाचता इत-उत घिरा, खिंचा, फेरा ?
आवेगपूर्ण राग-द्वेषकी ज्वालासे क्यों झुलसाता,
तव प्रशांतिसे पूर्ण बहिष्कृत भँवर-भँवरमें चकराता ?
शोक-पाशमें क्यों जकड़ा अरु भय-विह्वलतासे आक्रांत,
कामातुरताके घावोंसे क्यों मैं चकित, चलित, उद्भ्रांत ?
रुधिर-सिक्त मम मलिन भूत लख तव करुणा नहिं होवे वाम,
और देर भी नहीं करे वह, हे एकाकी सत्य प्रणाम !
मायावी हैं सकल देवता, भरते हैं वे तेरा स्वांग;
बचा-बचा उनके धोखेसे मेरा यौवन, यह मम मांग।
नीरवतामें परिणत कर दे ये कोलाहल और पुकार;
सुन लूँ जिससे शाश्वत वाणी, जानूँ शाश्वत शक्ति-प्रसार !
हटा-हटा जगमग आडंबर, भारभूत जो शाश्वत द्वार,
जगा-जगा तू दृष्टि समुज्ज्वल, हृदय बना स्वच्छ-सुकुमार !
झिड़क, नाथ, इन आशाओंको कान फोड़ता जिनका शब्द,
स्थापित कर पुनि मम विशुद्धता, दूर हटा मम पंकिल अशब्द !
खुल जा, खुल जा, अब तो खुल जा, दिव्य ज्ञानके ओझल द्वार,
पूर्ण बना अपनेको, हे बल, प्रेम ढाल अपनी रसधार !

●

श्री अरविन्दका पूर्णयोग : एक विश्लेषण

श्री गोपाल

★

योगिराज श्री अरविन्द हमारे युगके महर्षि हैं। उन्होंने अपनी योगसिद्धिसे आधुनिक मानवके लिए एक ऐसा दर्शन सुलभ बनाया है जिसमें अन्यान्य दर्शनोंका एक समन्वय भी है, अतिक्रमण भी एवं परिपूर्णतायुक्त विशेषता भी। उनके दर्शनका वेद, उपनिषद्, गीता आदि महान् ग्रन्थोंसे तारतम्य भी है तथा उसमें सत्यका ऐसा उद्घाटन भी है जिसकी अपनी विशेषता है। उनका यह दर्शन केवल चिन्तन-शक्तिपर आधृत कोई दृष्टिकोणमात्र नहीं है, वह उनके आध्यात्मिक अनुसन्धानका प्रतिफल है। उसी दर्शनसे सम्बद्ध उनकी योग-साधना भी है जिसमें अवतककी योग-प्रणालियोंका सामञ्जस्य है, साथ ही अपनी एक विशेषता भी। उनके योगमें एक सर्वाङ्ग-परिपूर्णता है, जिसके नाते उसे **पूर्णयोग** कहा जाता है।

श्री अरविन्द-दर्शनके अनुसार समस्त सत्ता परमात्म-सत्ता है, वह सच्चिदानन्द है। वह सर्वातीत भी है, सर्वमय भी है। हम जिसे ब्रह्म अथवा परमात्मा अथवा भगवान् कहते हैं, वह अनन्त है, सबसे परे है, और सबमें ओत-प्रोत भी। वह कोई ऐसी सत्ता नहीं, जिससे यह जगत् बहिष्कृत हो। वस्तुतः यह जगत् उसी भगवान्‌का है, उसीमें है, उसीका यह क्रीडा-विलास है। जीवन और जगत्‌को केवल भौतिक मानना एक अज्ञान है। इसे निस्सार और असत्य समझना एक भ्रान्ति है। वस्तुतः यह सर्वशः भगवन्मय है। इसकी उत्पत्ति, इसकी स्थिति और गति, इसका विधान और विलयन, सब कुछ भगवान्‌की दिव्य योजनाके अन्तर्गत है। हमारा यह जगत् और जीवन, इसकी प्रत्येक दशा, इसकी प्रत्येक घटना उसी दिव्य योजनाके अनुसार है।

जगत् और जीवनकी यह योजना एक विकासमयी योजना है। विकासकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मोटे रूपमें उन्हें भौतिक, प्राणिक, मानसिक एवं अतिमानसिक अवस्थाएँ कहा जा सकता है। इन सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की नित्य-सत्ता और उनकी अनन्त शक्ति निहित है। विकास-क्रमके अनुसार भौतिक-सत्तामेंसे प्राण-प्रक्रियाएँ, प्राण-प्रक्रियाओंमेंसे मनोवृत्तियाँ और मानसिक चेतनाका उत्क्रम होता है।

इस क्रममें जीवन निम्न-दशासे उच्च दशाकी ओर उठता है। इस प्रकार उठनेको **आरोहण** कहा जा सकता है। यह आरोहण इसलिए सम्भव होता है कि प्रत्येक उच्च दशा एक क्षमताके रूपमें निम्न-दशामें पहलेसे विद्यमान रहती है। अथवा यों कहें कि प्रत्येक

आरोहण पूर्ववर्ती अवरोहणसे सम्भव होता है। इस प्रकार जगत्के विकासमें आरोह-अवरोहकी द्विविध गति रहती है। इस आरोहण-क्रममें आगे आनेवाली अवस्था होगी, अतिमानसिक अवस्था।

श्री अरविंदके दिव्य तत्त्वदर्शन तथा उसके विकास-सिद्धान्तकी यही भूमिका उनके पूर्णयोगकी आधार-भूमि है। इस योगका लक्ष्य है दिव्य बन जाना, भगवान्के साथ एक हो जाना। श्री अरविंदके शब्दोंमें : 'जो सर्वस्व है उसके साथ सर्वतोभावेन अपनी सत्ताको एक कर देना योग है।' वे कहते हैं : 'दिव्य चेतनामें विकसित होना ही हमारे योगका सम्पूर्ण अभिप्राय है।' भगवान् स्वयं परिपूर्ण हैं, जगत्की विकासमयी योजनामें उनकी पूर्णता निहित है। इस विकासकी दिशा भी परिपूर्णताकी ओर है। जो परिपूर्णता जीवनमें तत्त्वतः निहित है, उसकी संसिद्धि ही योगका पूर्ण-लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए साधकको अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वको नियोजित करना होता है। उसके जीवनका कोई भी अंग साधनामें उपेक्षित नहीं होता। शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि—सभीको साधनामें लगना होता है। इसी कारण इस साधनाका नाम है 'पूर्ण-योग'।

साधारण रूपसे योगके विषयमें कुछ ऐसी धारणा बनी हुई है कि वह सांसारिक जीवनसे मुक्त होनेके लिए कोई एकान्त-साधना है जिसमें जीवनके सामान्य व्यापार रोक दिये जाते हैं, शरीर-प्राण-इन्द्रियादि की साधारण क्रियाओंपर कठोर नियंत्रण किया जाता है, प्रकृतिको बंधन मानकर आत्माको उसके पाशसे मुक्त करनेके लिए तप करना होता है, सांसारिक जीवनकी अवहेलना करनी होती है, लोक-जीवनको महत्त्वहीन मानकर उसका परित्याग करना होता है और ध्यान एवं समाधिके द्वारा आत्माको कैवल्यपदकी प्राप्ति करानी होती है। शारीरिक, ऐन्द्रियिक एवं मानसिक जीवनपर नियंत्रण करके कुछ आन्तरिक अभ्यास किये जाते हैं, जिनसे सांसारिक बंधनोंसे जीवात्माको मुक्ति मिलती है। किन्तु श्री अरविंदके पूर्णयोगका न कोई ऐसा आशय है, न कोई लक्ष्य। यह जीवन और जगत् न मिथ्या हैं और न अभिशाप। यह तो भगवान्का मंगल-विधान है, उनकी दिव्य आनन्दमयी लीला है। अतः योग-साधना जीवनसे मुक्त होनेका मार्ग नहीं, वह तो जीवनमें उस दिव्यके साथ मुक्त सह्योग है। इस योगका लक्ष्य है, जीवनमें दिव्य बनना तथा जीवनको भी दिव्य बना देना। भगवान्के मंगलमय विधानको चरितार्थ करना पूर्णयोगका लक्ष्य है।

जीवनको दिव्य बना देनेकी बात केवल सम्भावनाकी ही वस्तु नहीं है, अपितु वह भगवान्के विधानकी अनिवार्यता है। विकासमयी योजनाके अनुसार जीवनकी जो प्रगति हो रही है, उसमें हमारी अवस्था अभी मानसिक-स्तरतक पहुँची है। इससे आगेकी अवस्थाका प्रादुर्भाव मानसिक स्तरसे ऊपर होगा। वह अवस्था अतिमानसिक अवस्था होगी। मानसिक-स्तरपर हमारी चेतना जिस प्रकार कार्य करती है, अतिमानसिक स्तरपर वह उससे सर्वथा भिन्न और उच्च प्रकारसे कार्य करेगी। उस अतिमानसिक चैतन्यके लक्षण होंगे सत्यबोध, एकात्मकता, सामञ्जस्य और प्रेमका साम्राज्य! वह अवस्था दिव्य अवस्था होगी। उस अवस्थामें मानव-व्यक्तित्वका आमूल परिवर्तन हो जायगा। वह जीवन दिव्य जीवन होगा।

इस दिव्य-जीवनको प्राप्त करनेके लिए जो मार्ग श्री अरविन्दने बताया है, वह है योग। उसके दो आवश्यक अङ्ग हैं, जो दो शक्तियोंके रूपमें सम्मिलित कार्य करते हैं। एक ओरसे साधककी दिव्यताके लिए प्यास और पुकार, तो दूसरी ओरसे भगवान्की सर्वसमर्थ कृपा, उनका दिव्य प्रसाद। इन दोनोंके संयुक्त होनेसे ही मानव-व्यक्तित्वका रूपान्तरण सम्भव होगा; तभी अतिमानसिक चैतन्यका प्रादुर्भाव होगा, उसीसे जीवनमें दिव्यताका प्रस्फुटन होगा। जिस प्रकार चातक पूर्ण तृषित होकर केवल स्वाति-बूँदकी प्रतीक्षा करता है और वह अमृत-बिन्दु ऊपरसे बरसकर उसे नवजीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार साधक मानव मनसे, प्राण और देहसे, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वसे केवल दिव्यके लिए प्यासा होता है, उसीको पुकारता है और ऊपरसे भगवान्की कृपामयी शक्ति उतरकर उसे अपनी दिव्य ज्योति और आनन्दसे भर देती है। भागवती शक्तिके इस अवतरणसे ही पूर्णयोगकी सिद्धि होती है।

भगवान्की रूपान्तरकारिणी चिन्मयी शक्तिके अवतरणके लिए यह आवश्यक है कि मानव-व्यक्तित्व उसका पात्र बने। अपनेको दिव्य शक्तिका पात्र बनानेके लिए आवश्यक है साधना। श्री अरविन्दने पूर्णयोगकी जिस साधनाका निर्देश किया है, वह एक सर्वाङ्गसाधना है। उनके अनुसार आध्यात्मिक साधना एकदेशीय अथवा एकाङ्गी साधना नहीं है, उस साधनामें समस्त जीवनका समावेश है, जीवनका कोई भी अङ्ग साधना-रहित नहीं है। जीवन-व्यापी साधनाका अर्थ होगा समस्त जीवनको साधनाकी भावनासे भर देना। श्री अरविन्दकी यह योग-प्रणाली केवल किसी विशेष आसन-प्राणायाम आदिकी प्रणाली-जैसी नहीं है; उनकी साधनाका अभिप्राय केवल सन्ध्या-वन्दन, पूजन अथवा नमाज़ या चर्च-सर्विसके समान कोई बँधी-बँधायी पद्धतिमात्र नहीं है, यद्यपि इन सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता है। अध्यात्म-साधना जीवनके विविध क्षेत्रोंसे अलग हटकर उसके किसी कोनेमें किया जानेवाला अभ्यासमात्र नहीं है; वह दिन-रातके चौबीस घण्टोंमें-से कुछ विशेष क्षणोंमें होनेवाली विशेष क्रियामात्र नहीं है; वह तो जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्याप्त प्रतिक्षण होनेवाली साधककी वह तैयारी है जो उच्चतम दिव्यताके स्वागतके लिए, सम्पूर्ण जीवनमें उसके प्रादुर्भावके लिए निरन्तर करनी है। मानव-व्यक्तित्वके प्रत्येक अङ्गको, उसकी बुद्धिको, उसके मनको, इन्द्रियोंको, प्राणोंको, देहकी प्रत्येक शिराको, उसके मनको, उसके समस्त कोषाणुओंको, अपने चिन्तनको, भावनाको, वाणी और कर्मको—सब कुछको उस दिव्यके प्रति निवेदित कर देनेकी साधना है पूर्णयोगका वह अङ्ग, जिसे साधकको सम्पादित करना है। शेष समस्त कार्य भगवान्की दिव्य चिन्मयी शक्तिके द्वारा ही सम्पन्न होगा। पूर्णयोगकी इस साधनामें भागवती शक्ति दिव्य मातृ-शक्ति है।

श्री अरविन्दके अनुसार तत्त्वतः तो साधक, साध्य और साधना—इन तीनोंमें वही भागवती शक्ति विराजती है, वे ही अपने दिव्य आयोजनके लिए, अपने प्रादुर्भावके लिए शरीर, प्राण और मन आदिमें अपने ही सामर्थ्यसे साधना करवाती है। परन्तु जबतक इस अद्भुत रहस्यका जाग्रत् अनुभव न हो जाय तबतक साधकको निजी प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। उस प्रयत्नके तीन प्रमुख अंग है: १. भगवान्के लिए पूर्ण अभिलाषा, २. आत्म-शुद्धिके लिए त्याग और विरक्ति एवं ३. भगवान्के प्रति आत्मनिवेदन, पूर्ण समर्पण। ये तीनों

ही अंग व्यापक हों, सर्वाङ्ग हों। श्री अरविन्दके अपने शब्दोंमें 'दिव्यकी अभीप्सा ऐसी जो सजग हो, अविराम हो और अविच्छिन्न हो—मनका संकल्प, हृदयकी प्यास, प्राणोंकी स्वीकृति, देह की चेतना तथा प्रकृतिको खोलने और विनीत बनानेका निश्चय, सभी कुछ भगवान्के लिए ही हो।

'त्याग : निम्न प्रकृतिकी समस्त वृत्तियोंका त्याग, मनकी मान्यताओं, धारणाओं, महत्त्वभावों, अभ्यासों और रचनाओंका ऐसा त्याग कि सत्यबोधको रिक्त मनमें निर्बन्ध स्थान मिले—प्राण-प्रकृतिकी समस्त वासना, कामना, लालसा, वेदना, स्वार्थपरता, अहंकारिता, अहंमन्यता, लोभ, लोलुपता, ईर्ष्या, असूया, सत्यके प्रति विरोधभाव, इन सबका ऐसा त्याग कि स्थिर, उदार, समर्थ और समर्पित प्राणोंमें सत्य, शक्ति और आनन्दकी वर्षा हो। देह-प्रकृतिकी मूढ़ता, संशय, अविश्वास, अन्धता, हठ, क्षुद्रता, आलस्य, जड़ता, तामसिकता, इन सबका ऐसा परिवर्जन कि ज्योति, शक्ति, और आनन्दकी स्थिरता उत्तरोत्तर, निरन्तर, अधिकाधिक दिव्य होनेवाली देहमें प्रतिष्ठित हो।

'समर्पण : भगवान् और भागवती शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण—हम जो कुछ हैं और जो कुछ हमारे पास है, जो-जो हमारी चेतना है, चित्तवृत्ति है, उन सबका समर्पण।'

उपर्युक्त प्रयत्न द्वारा हमें अपने आपको उस दिव्य शक्तिके प्रति उन्मुख बनाना है और निरन्तर उसका आवाहन करना है। इस साधनामें मानव-जीवन सर्वतः एक दिव्य परिपूर्णताके लिए प्यासा है, उसके प्रति समग्र जीवन समर्पित है, यह जीवन ही एक नैवेद्य है। इसीलिए यह योगसाधना एकाङ्गी नहीं है। सम्पूर्ण जीवन ही साधना है। हमारे समस्त कर्म—खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जगना, सब मानो उस दिव्यकी अर्चना है। अतः यह योग-साधना जीवनके एकान्तमें सीमित नहीं है, सम्पूर्ण जीवनक्षेत्र ही एक योगशाला है। इस सर्वाङ्ग योगसाधनाकी पूर्णसिद्धि भगवान्की कृपामयी दिव्य शक्ति द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है। उसी सर्वसमर्थ शक्तिसे मानव-जीवनका रूपान्तरण सम्भव होगा, तभी मानव दिव्य बनेगा और पृथ्वीपर होगा भगवान्का साम्राज्य !

जब मैं श्रीकृष्णमय हो जाता हूँ

जब मैं श्रीकृष्णमय हो जाता हूँ, तब अहं और स्वार्थपरता पलायन कर जाती है केवल स्वयं भगवान् ही होते हैं मेरे असीम और अगाध प्रेमके विशेषण।

—श्री अरविन्द

श्री अरविन्द विचार-दोहन

श्री अरविन्दके शब्दोंमें

★

[यहाँ श्री अरविन्दके विविध वाङ्मयोंसे उनके विचारोंका दोहन कर उन्हींके शब्दोंमें प्रस्तुत किया जा रहा है। यों तो उनके विचारोंके क्षेत्र अनेक हैं, फिर भी प्रमुख विचारोंके रूपमें यहाँ १. सनातन धर्म, २. समाज, ३. यज्ञ, ४. दिव्यकर्म, ५. ज्ञानका लक्ष्य आदि प्रमुख विषयोंपर ही उनके भाव संकलित किये हैं, जो सभीके लिए मननीय हैं]

: १ :

एष धर्मः सनातनः

वेदोंकी एक दिव्य सत्ता, जिसे ज्ञानियोंने विभिन्न नाम दिये हैं, उपनिषदोंका 'एकमेवाद्वितीय' ही है, भारतीय आध्यात्मिकताका मूलगत दर्शन। सब कुछ उसी 'एक' से आता है, उसीमें रहता है, उसीमें वापस जाता और उसीको प्राप्त होता है। इस अनन्त, इस शाश्वत सत्ताको ढूँढ़ निकालना, उसके निकट-सम्पर्कमें आना, उसके साथ चाहे जैसी एकता स्थापित करना ही आध्यात्मिक अनुभवका शिखर है। यही भारतमें धार्मिक मनकी प्रथम भावना है।

दूसरी भावना है, उस शाश्वत और अनन्त सत्तातक जानेका मनुष्यका बहुविध मार्ग। यह अनन्त अनेक अनन्तताओंसे भरा है और इन अनन्त रूपोंमेंसे प्रत्येक अपनी महिमामें शाश्वत है। विश्वकी सीमाओंके भीतर भगवान् मनुष्यके सामने प्रकट होते हैं और अनेक पद्धतियोंसे जगत्में अपनेको पूर्ण करते हैं, पर प्रत्येक सनातनकी ही पद्धति है, प्रत्येक ससीम वस्तुके अन्दर हम अनन्तको खोजते हैं, प्रत्येक वस्तुद्वारा हम अनन्तके पास पहुँच सकते हैं।

विश्वकी सभी शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ 'एक' की हैं और प्रकृतिकी क्रियाओंके पीछे वे उन शक्तियों, नामों और व्यक्तियोंके रूपमें देखी और पूजी जाती हैं, जो एक परम देवके विभिन्न देव-रूप हैं। भागवत-संकल्प और क्रियाशक्ति सभी घटनाओंके पीछे विद्यमान

है, भले ही वे हमारे लिए अनुकूल या प्रतिकूल हों। विश्व-व्यवहारोंकी प्रत्येक पद्धतिपर अधिष्ठाता परम देवका एक रूप विद्यमान है, वे सृष्टि करते और ब्रह्मा होते हैं, पालन करते और विष्णु होते हैं, नाश करते या अपने अन्दर ले लेते और रुद्र या शिव होते हैं। उनकी परमा शक्ति धारण करने और रक्षा करनेकी कृपा करती है और वह जगतोंकी माता, लक्ष्मी या दुर्गा होती है, अथवा नाश करनेका छद्मवेश धारण करनेकी भी कृपा करती है और चण्डी या काली माँ होती है। वे अपने गुणोंका रूप ग्रहणकर अभिव्यक्त होते हैं। वैष्णवोंके दिव्यप्रेमके ईश्वर, शाक्तोंकी दिव्य शक्तिके ईश्वर दो पृथक्-पृथक् देवता प्रतीत होते हैं, पर वे हैं एक ही परम देव।

आज हम रूपक कहकर इन सब चीजोंकी व्याख्या करनेकी चेष्टा करते हैं, जो आधुनिक युक्तिवादके साथ किया गया बुद्धिका एक प्रकारका समझौता है। किन्तु भारतीय धार्मिक मनोवृत्तिने उन्हें केवल रूपक-जैसा ही नहीं, सत्यके रूपमें देखा था; क्योंकि उच्चतम आध्यात्मिक सत्ताके बीच अवस्थित चैतन्य और अनुभवके दूसरे आंतर लोकोंका उसे पता है और ये सब चीजें उन लोकोंके सत्य हैं। ये भौतिक जगत्के बाहरी सत्योंसे किसी अंशमें कम सत्य नहीं। मनुष्य सर्वप्रथम इस गम्भीरतर अनुभूतिके योग्य अपनी आंतर प्रकृति, अनुभव और क्षमता, स्वभाव और अधिकारके अनुसार ही भगवान्की ओर जाता है और इसी कारण विभिन्न प्रकारके धार्मिक मत, विश्वास और दिव्य एकत्वके पथ उत्पन्न होते हैं।

> सबसे प्रबल प्रभाव उत्पन्न करनेवाली एक तीसरी भावना भी है और वह यह कि केवल विश्वव्यापी आत्मा तथा समस्त आंतर और बाह्य प्रकृतिके रूपों द्वारा ही भगवान्को नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक व्यष्टिभावापन्न वस्तु और प्राणी अपने आध्यात्मिक स्वरूपमें एक भागवत सत्ताके साथ घनिष्ट रूपमें एक हैं। प्रत्येक मनुष्यके अन्दर देवत्व है, नारायण हैं। प्रत्येक संयुक्त या समष्टि सत्ता दिव्य नारायणका एक रूप है। भगवान् हमारे अन्दर हैं और अपने अन्दर ही हमें उन्हें पाना होगा। समस्त विभाजनोंका परम सत्य है एक गुह्य एकत्व।

ये ही तीनों भावनाएँ भारतीय धार्मिक मनको परिचालित करती हैं। इन्हें देखना ही सम्पूर्ण देखना है। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति सैकड़ों रास्ते खोलती है, जिनके द्वारा हम अपने धार्मिक स्वरूपके सत्यको प्राप्त कर सकते हैं। इसकी परिणति है, मनुष्यके अन्दर भगवान्को और भगवान्के अन्दर मनुष्यको, प्रकृतिमें भगवान्को और भगवान्में प्रकृतिको, सब वस्तुओंमें भगवान्को और भगवान्में सब वस्तुओंको देखना और उन सबसे परे विश्वातीत निरपेक्षके अन्दर उनके मूलतक चले जाना। एकमात्र परात्परको ही और सभी तरीकोंसे देखना और उसके साथ एक हो जानेके लिए वर्धित होना ही सनातन-धर्म है : **एष धर्मः सनातनः।**

●

: २ :

मानव-जीवनमें समाजका स्थान

मनुष्यका जन्म समाजके लिए नहीं हुआ है, समाज मनुष्यके लिए बना है। जो लोग मनुष्यके अन्तःस्थ भगवान्‌को भूलकर समाजको ऊँचा स्थान देते हैं, वे अपदेवताकी पूजा करते हैं। अयथार्थ समाज-पूजा मनुष्य-जीवनजी कृत्रिमताका लक्षण है और है स्वधर्मकी विकृति।

मनुष्य समाजका नहीं, भगवान्‌का है। जो लोग समाजकी दासता और उनकी अनेक बाह्य शृङ्खलाएँ मनुष्यकी आत्मा और मन-प्राणपर लाद देते हैं, वे अपने अन्तरस्थित भगवान्‌को खर्व करनेकी चेष्टा करते हैं। वे मनुष्य-जातिका यथार्थ लक्ष्य खो बैठे हैं। इस अत्याचारके दोषके कारण अन्तर्निहित देवता जाग्रत नहीं होते; बल्कि शक्ति भी सो जाती है।

> दासता ही करनी हो तो समाजकी नहीं, भगवान्‌की स्वीकार करो। उस दासतामें मधुरता भी है और उन्नति भी। परम आनन्द, बन्धनमें भी मुक्ति, अबाध स्वाधीनता आदि उसके चरम परिणाम हैं।

'समाज' कभी उद्देश्य नहीं हो सकता, वह तो मात्र उपाय है, यन्त्र है। मनुष्यके आत्म-प्रणोदित, कर्मस्फुरित, भगवद्‌गठित ज्ञान और बल जीवनके यथार्थ नियन्ता हैं, जिनकी उत्तरोत्तर वृद्धि जीवनके आध्यात्मिक क्रम-विकासका उद्देश्य है। यह ज्ञान, यह बल समाज-रूप यन्त्रको चलाये, उसे गठित करे, आवश्यकताके अनुसार बदल भी दे—यही स्वाभाविक अवस्था है। निश्चल स्थगित समाज मृत मनुष्यत्वकी कब्र बन जाता है, जीवनका स्फुरण होने और ज्ञानशक्तिका विकास होनेपर समाजका भी रूपान्तर होना अवश्यंभावी है। सहस्र बन्धनोंसे जकड़े असंख्य मनुष्योंको समाज-यन्त्रके अन्दर डालकर पीस डालनेसे निश्चलता और अवनति अनिवार्य है।

हमने मनुष्यको छोटा बनाकर समाजको बड़ा बना दिया है। किन्तु इस तरह समाज बड़ा नहीं हो जाता; क्षुद्र, निश्चल और निष्फल ही बन जाता है। हमने समाजको उत्तरोत्तर उन्नतिका उपाय नहीं, वरन् निग्रह और बन्धनका कारण बना डाला है। यही हमारी अवनतिका, निश्चेष्टताका, निरुपाय दुर्बलताका कारण है। मनुष्यको बड़ा बनाओ, अन्तरस्थ भगवान् जहाँ गुप्तरूपसे विराजमान हैं, उस मन्दिरका सिंह-द्वार खोल दो, समाज अपने आप महान्, सर्वांगसुन्दर, उन्मुक्त-उच्चाशय प्रयासका सफल क्षेत्र बन जायगा।

•

: ३ :

यज्ञ का सार-सर्वस्व : आत्मार्पण

यज्ञके विधानका अभिप्राय वह सार्वजनीन दिव्य-कर्म है, जो सृष्टिके आदिमें लोकसंग्रहके प्रतीकके रूपमें प्रकट हुआ था। इसी विधानके आकर्षणसे एक दिव्यकारिणी रक्षक-शक्ति इस अहम्मय और विभक्त सृष्टिकी भूलोंको सीमित, संशोधित और धीरे-धीरे दूर करनेके लिए अवतरित होती है। यह अवतरण अथवा पुरुष या भागवत आत्माका यह यज्ञ—जिसके द्वारा वह अपने-आपको शक्ति और जड़ प्रकृतिके अधीन कर देता है, ताकि वह उन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके—विश्वचेतना और अविद्याके इस संसारकी रक्षाका बीज है। कारण, गीता कहती है कि 'प्रजाका साथी बनाकर प्रजापतिने यज्ञोंको उत्पन्न किया।'[1]

यज्ञका विधान स्वीकार करना अहंका इस बातको क्रियात्मक रूपसे अङ्गीकार करना है कि इस संसारमें वह न तो अकेला है और न मुख्य ही है। यह उसका इस बातको मान लेना है कि इस अत्यन्त खण्डित सत्तामें भी उसके परे और पीछे कोई ऐसी वस्तु है, जो उसका अपना अहंमय व्यक्तित्व नहीं। वह कोई ऐसी वस्तु है जो उससे महत्तर और पूर्णतर है। एक दिव्यतर सर्वमय सत्ता है जो उससे दास्य और सेवाकी माँग करती है। निःसन्देह विराट् विश्व-शक्ति हमपर यज्ञ थोपती है और जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ हमें उसके लिए बाध्य भी करती है। जो इस विधान को सचेतन रूपमें स्वीकार नहीं करते, उनसे भी वह यज्ञका भाग ले लेती है। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि वह जगत्‌का आन्तर स्वभाव है। हमारे अज्ञान या अहंमूलक मिथ्या जीवन-दृष्टिसे प्रकृतिके इस शाश्वत आधारभूत सत्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। कारण यह प्रकृतिका एक अन्तर्निहित सत्य है कि अहं, जो अपनेको एक पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता समझता है और स्वयं अपने लिए जीनेका अधिकार जताता है, स्वतन्त्र नहीं है और न हो ही सकता है। वह न तो दूसरोंसे पृथक् है और न हो ही सकता है। यदि वह चाहे तो भी केवल अपने लिए नहीं जी सकता।

सच पूछें तो सभी अहं एक निगूढ़ एकता द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। प्रत्येक सत्ता विवश होकर अपने भण्डारसे लगातार कुछ-न-कुछ वितरण कर रही है। प्रकृतिसे प्राप्त उसकी मानसिक आयसे या उसकी प्राणिक और शारीरिक सम्पत्ति, उपलब्धि और निधिसे एक धारा उन सबकी ओर बहती रहती है जो उसके चारों ओर हैं। फिर वह अपनी ऐच्छिक या अनैच्छिक भेंटके बदलेमें अपने परिपार्श्वसे सदैव कुछ-न-कुछ प्राप्त भी करती है। अपने इस आदान-प्रदानसे ही वह अपना विकास सम्पन्न कर पाती है और साथ ही उससे समष्टिको सहायता भी देती है।

---

१. सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। —गीता ३.१०

इस प्रकार प्रारम्भमें थोड़ा थोड़ा और अपूर्णरूपमें यज्ञ करते हुए दीर्घकालके बाद हम सचेतनरूपसे यज्ञ करना सीख जाते हैं। यहाँतक कि अन्तमें हम अपने-आपको तथा उन सब चीजोंको, जिन्हें हम अपनी समझते हैं, प्रेम और भक्तिभाव के साथ 'उस'को दे देनेमें आनन्दका अनुभव करते हैं, भले ही 'वह' हमें आपाततः अपनेसे भिन्न प्रतीत होता हो और निश्चय ही हमारे सीमित व्यक्तित्वोंसे भिन्न है भी। तब यज्ञ एवं उसका दिव्य प्रतिफल हमारी अन्तिम पूर्णताका साधन बन जाते हैं, जिसे हम सहर्ष स्वीकार करते हैं। कारण, अब हम उसे अपने अन्दर सनातन प्रयोजनकी परिपूर्तिका मार्ग समझने लगते हैं।

किन्तु बहुधा यज्ञ अचेतनरूपसे, अहंभावपूर्वक और महान् सार्वभौम विधानके सच्चे अर्थको जाने या अंगीकार किये बिना किया जाता है। पृथ्वीतलके अधिकांश प्राणी इसे इसी प्रकार करते हैं। जब यह इस प्रकार किया जाता है तब व्यक्ति इसके प्राकृतिक अवश्यंभावी लाभकी एक यांत्रिक न्यूनतम मात्रा ही प्राप्त करता है। उसके द्वारा वह धीमे-धीमे और कठिनाईसे प्रगति करता है और वह प्रगति भी अहंकी क्षुद्रता तथा यातनासे सीमित एवं पीड़ित होती है।

> दिव्य यज्ञका गम्भीर आनन्द और मंगलमय फल तो तभी उपलब्ध हो सकते हैं जब हृदय, सङ्कल्प और ज्ञानात्मक मन अपने-आपको उस विधानसे सम्बद्ध करके उसका हर्षपूर्वक अनुसरण करें।

इस विधानके सम्बन्धमें मनके ज्ञान तथा हृदयकी प्रसन्नताकी पराकाष्ठा इस अनुभवमें होती है कि हम जो उत्सर्ग करते हैं, वह अपनी ही आत्मा और आत्मतत्त्वके तथा सबकी एकमेव आत्मा और आत्मतत्त्वके प्रति ही करते हैं। यह बात तब भी सत्य होती है जब हम अपनी आत्माहुति परम देवके प्रति नहीं, मनुष्यों या क्षुद्रतर शक्तियों और तत्त्वोंके प्रति अर्पित करते हैं। याज्ञवल्क्यने उपनिषद्में कहा है: 'पत्नी हमें पत्नीके लिए नहीं, बल्कि आत्माके लिए प्यारी होती है।' इसे व्यक्तिगत अहंके निम्नतर अर्थमें लिया जाय, तो भी यह एक ऐसा निर्विवाद सत्य है जो अहंमूलक प्रेमके रञ्जित एवं आवेशयुक्त दावोंके पीछे छिपा रहता है। किन्तु उच्चतर अर्थमें यह उस प्रेमका भी आन्तरिक आशय है, जो अहंभाव-मय नहीं, बल्कि दिव्य होता है।

समस्त सच्चा प्रेम एवं समस्त यज्ञ वास्तवमें एक मूलगत अहंभाव और उसकी विभाजनात्मक भ्रान्तिका प्रकृतिद्वारा किया गया विरोध है। यह आवश्यक प्रथम विभाजनसे एकत्वकी पुनरुपलब्धिकी ओर मुड़नेका उसका एक प्रयत्न है। प्राणियोंकी समस्त एकता वास्तवमें एक आत्म-गवेषणा है। यह उसके साथ मिलन है जिससे हम पृथक् हो चुके हैं; साथ ही दूसरोंमें अपनी आत्माकी उपलब्धि भी है।

किन्तु एक दिव्य प्रेम और एकत्व ही उस वस्तुको प्रकाशमें अधिकृत कर सकते हैं जिसे इन चीजोंके मानवीय रूप अन्धकारमें खोज रहे हैं। कारण, सच्चा एकत्व केवल उस प्रकारका संगठन और राशीकरण ही नहीं होता जिस प्रकारका समान हितवाले जीवन

द्वारा जुड़े हुए भौतिक कोषाणुओंका होता है। यह भावोंका ज्ञानमूलक **सामंजस्य किंवा सहानुभूति** —सामाजिकता या निकट संसर्ग भी नहीं है। जो हमसे प्रकृति-जनित भेदोंके कारण अलग हो गये हैं, उनसे हम वास्तवमें केवल तभी एकीभूत हो सकते हैं जब भेदको मिटाकर अपनेको उस वस्तुमें प्राप्त कर लें जो हमें 'अपना-आप' नहीं प्रतीत होती। संगठन प्राणिक और भौतिक एकता है। इसका यज्ञ पारस्परिक सहायता और सुविधाओंका यज्ञ है। निकटता, सहानुभूति और सामाजिकता मानसिक, नैतिक और भावुक एकताको जन्म देती है। इनका यज्ञ पारस्परिक सहायता और पारस्परिक सन्तुष्टिका यज्ञ है। किन्तु सच्ची एकता तो केवल आध्यात्मिक एकता ही है। उसका यज्ञ पारस्परिक आत्मदान और हमारी आन्तरिक सत्ताओंका परस्पर मिलन है।

यज्ञका विधान विश्व प्रकृतिमें इस पूर्ण और नि:शेष आत्मदानकी पराकाष्ठाकी ओर ही गति करता है। वह इस चेतनाको जागरित करता है कि यजनकर्ता और यज्ञके ध्येयमें एक ही सार्वभौम आत्मा है। यज्ञको यह पराकाष्ठा मानवीय प्रेम एवं भक्तिकी भी सर्वोच्च अवस्था होती है, जब कि वह दिव्य बननेके लिए प्रयत्न करती है। कारण, प्रेमकी सबसे ऊँची चोटी भी पूर्ण पारस्परिक आत्मदानके स्वर्गकी ओर इंगित करती है। उसका सर्वोच्च शिखर भी दो आत्माओंका उल्लासपूर्वक घुल-मिल जाना है।

विश्वव्यापी विधानका यह गम्भीतर विचार गीताकी कर्म-सम्बन्धी शिक्षाका मर्म है; यज्ञ द्वारा सर्वोच्च देवके साथ आध्यात्मिक मिलन और सनातन देवके प्रति नि:शेष आत्मदान इसके सिद्धान्तका सार है।

यज्ञके विषयमें एक असंस्कृत विचार यह है कि यह कष्टमय आत्म-बलिदान, कठोर आत्म-पीड़न तथा कृच्छ्र आत्मोच्छेदका कार्य है। इस प्रकारका यज्ञ आत्म-पंगूकरण और आत्म-यातनाकी सीमातक भी पहुँच सकता है। ये चीजें मनुष्यके अपने प्रकृतिगत 'अहं' को अतिक्रान्त करनेके कठिन प्रयासमें कुछ समयके लिए आवश्यक हो सकती हैं। यदि मनुष्यकी प्रकृतिमें अहंभाव उग्र और आग्रहपूर्ण हो, तो कभी कभी तदनुरूप किसी प्रबल एवं आन्तरिक अवदमन और उसीके तुल्य उग्रता द्वारा उसका मुकाबला करना ही होता है। किन्तु गीता अपने प्रति किसी मात्रामें भी अधिक उग्रताके प्रयोगको मना करती है। क्योंकि अन्त:स्थित आत्मा वास्तवमें विकसित हो रहा परमेश्वर ही है, वह कृष्ण है, वह भगवान् है। उसे उस प्रकार पीड़ा और यन्त्रणा नहीं पहुँचानी है जिस प्रकार संसारके असुर उसे पीड़ा और यन्त्रणा पहुँचाते हैं। बल्कि उसे उत्तरोत्तर संवर्धित, पालित-पोषित और दिव्य प्रकाश, बल, हर्ष और विशालताकी ओर ज्वलन्त रूपसे उद्घाटित करना है।

हमें अपनी आत्माको नहीं, बल्कि आत्माके आन्तरिक रिपुओंके दलको निरुत्साहित और निष्कासित करना है। उन्हें आत्मोन्नतिकी वेदीपर बलि चढ़ा देना है। निर्दयतापूर्वक उन सबका उच्छेद किया जा सकता है। उनके नाम हैं: काम, क्रोध, असमता, लोभ, बाह्य सुख:-दुखोंके प्रति मोह और बलात् आक्रमण करनेवाले दैत्योंका सैन्यदल। ये आत्माकी

भ्रान्तियों और दुःखोंके मूल कारण हैं। इन्हें अपने अंग नहीं, बल्कि अपनी आत्माकी वास्तविक और दिव्य प्रकृतिपर अनधिकार आक्रमण करनेवाले और उसे विकृत करनेवाले समझना चाहिए। 'बलि' शब्दके कठोरतर अर्थके अनुसार इनकी बलि चढ़ा देनी होगी, भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छाया द्वारा जिज्ञासुकी चेतनापर कैसा भी दुःख क्यों न डाल जायें।

फिर भी 'यज्ञ' का वास्तविक सार 'बलिदान' नहीं, 'आत्मार्पण' है। इसका उद्देश्य आत्मोच्छेद नहीं, आत्मपरिपूर्णता है। इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर जीवन है। आत्म-पंगूकरण नहीं, अपने प्राकृतिक मानवीय अंगोंका दिव्य अंगोंमें रूपान्तर है। आत्म-यंत्रणा नहीं, क्षुद्रतर सुखसे महत्तर आनन्दकी ओर प्रयाण है! केवल एक ही चीज है जो उपरितलकी प्रकृतिके अपरिपक्व या कलुषित भागके लिए प्रारम्भमें दुःखदायी होती है। यह एक अनिवार्य अनुशासन है जिसकी उससे माँग की जाती है। यह एक ऐसा परित्याग है जो अपूर्ण अहंके विलयके लिए आवश्यक है। किन्तु इसके बदलेमें उसे शीघ्र ही एक अपरिमित फल मिल सकता है। यह दूसरोंमें, सभी वस्तुओंमें, विश्वव्यापी एकतामें, विश्वातीत आत्मा एवं आत्म-तत्त्वकी स्वतंत्रतामें और भगवान्‌के स्पर्शके हर्षोन्मादमें एक वास्तविक महत्तर या चरम पूर्णता प्राप्त कर सकती है।

हमारा यज्ञ कोई ऐसा दान नहीं जिसके बदले दूसरी ओरसे कोई प्रतिदान या फलप्रद स्वीकृति प्राप्त न हो। यह तो हमारी सनातन आत्मा और हमारी शरीरधारी आत्मा एवं सचेतन प्रकृतिका पारस्परिक आदान-प्रदान है। यद्यपि हम किसी भी प्रतिफलकी माँग नहीं करते, तथापि हमारे अन्दर गहराईमें यह ज्ञान रहता ही है कि एक अद्भुत प्रतिफलकी प्राप्ति अवश्यंभावी है। आत्मा जानती है कि वह अपने-आपको भगवान्‌पर वृथा ही न्यौछावर नहीं करती। कुछ भी याचना न करती हुई भी वह दिव्य शक्ति और उपस्थितिकी अनन्त संपदाएँ प्राप्त करती है।

अन्तमें हमें यज्ञके पात्र (यजनीय और) यज्ञकी विधिपर भी विचार करना होगा। यज्ञ अदिव्य शक्तियोंको अर्पण किया जा सकता है और दिव्य शक्तियोंको भी वह विराट् विश्वमय देवको अर्पण किया जा सकता है और विश्वातीत परम देवको भी। जो अर्घ्य चढ़ाया जाता है उसका कोई भी रूप हो सकता है : पत्र, पुष्प, फल, तोय या अन्न-धान्यका उत्सर्ग। यहाँतक कि उन सबका निवेदन, जो कुछ हमारे पास है; उन सबका अर्पण, जो कुछ हम हैं। पात्र और हवि चाहे कोई भी हो, पर जो हविको ग्रहण और स्वीकार करता है वह परात्पर और विश्वव्यापी सनातन देव ही है, भले ही तात्कालिक पात्र उसे अस्वीकार कर दे या उसकी ओर उपेक्षा दिखाये।

विश्वसे अतीत वह परात्पर देव यहाँ भी, प्रच्छन्न रूपमें ही सही, हममें और जगत्‌में तथा उसकी घटनाओंमें विद्यमान है। हमारे निखिल कर्मोंके सर्वज्ञ द्रष्टा और ग्रहीता तथा उनके गुप्त स्वामीके रूपमें वह यहाँ उपस्थित है। एकमेव देव ही हमारे सब कार्यों और प्रयत्नों, पापों और स्खलनों तथा दुःखों और संघर्षोंका अन्तिम परिणाम निर्धारित करता है, चाहे हम इस

बातके प्रति सचेतन हों या अचेतन, चाहे हम इसे जानते एवं प्रत्यक्ष अनुभव करते हों अथवा न जानते और न अनुभव करते हों। सब वस्तुएँ उसके अगणित रूपोंमें उसीकी ओर प्रेरित होती और उन रूपों द्वारा उसी एक सर्वव्यापक सत्ताके प्रति अर्पित होती हैं। चाहे जिस रूप और जिस किसी भावनासे हम उसके पास पहुँचें, उसी रूप और उसी भावनाके साथ वह हमारा यज्ञ ग्रहण करता है।

कर्मोंके, यज्ञके फल भी कर्म और उसके प्रयोजन एवं उस प्रयोजनकी मूल-भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु आत्मदानके सिवा अन्य सभी यज्ञ एकांगी, अहंभावमय, मिश्रित, कालावच्छिन्न तथा अपूर्ण होते हैं। ऊँची-से-ऊँची शक्तियों और तत्त्वोंके प्रति अर्पित यज्ञोंका भी यही रूप होता है। उनका फल भी आंशिक, मित-कालावच्छिन्न तथा अपनी प्रतिक्रियाओंसे मिश्रित होता है और उससे केवल एक तुच्छ या अवान्तर प्रयोजन ही सिद्ध हो सकता है।

योगका प्रथम उद्देश्य

अगर मन चंचल हो तो योगकी नींव डालना कभी सम्भव नहीं। सबसे पहले आवश्यक है कि मन अचंचल हो। और व्यक्तिगत चेतनाका लयकर देना भी इस योगका प्रथम उद्देश्य नहीं है, प्रथम उद्देश्य तो है व्यक्तिगत चेतनाको एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर खोल देना और इसके लिए भी जिस बातकी सबसे पहले आवश्यकता है वह है मनकी अचंचलता।

—श्री अरविन्द

पूर्णरूपसे स्वीकार्य यज्ञ तो केवल चरम और परम ऐकान्तिक आत्म-दान ही है। वह एक ऐसा समर्पण है जो एकमेव देवके प्रति उसकी प्रत्यक्ष उपस्थितिमें, भक्ति और ज्ञानके साथ स्वेच्छापूर्वक और निःसंकोच किया जाता है,—उस एकमेव देवके प्रति, जो एक साथ हमारी अन्तर्यामी आत्मा एवं चतुर्दिग्व्यापी उपादानभूत विश्वात्मा है, अभिव्यक्तिमात्रसे परे परम सद्वस्तु है और गुप्त रूपसे एक साथ ये सभी चीजें हैं तथा जो सर्वत्र निगूढ़ अन्तर्यामी परात्परता है। जो आत्मा अपने आपको पूर्ण रूपसे ईश्वरको दे देता है, उसे ईश्वर भी अपने आपको पूर्ण रूपसे दे देता है। जो अपनी सम्पूर्ण प्रकृतिको अर्पित कर देता है, केवल वही आत्माको प्राप्त करता है—केवल वही, जो प्रत्येक वस्तु दे सकता है सर्वत्र विश्वमय भगवान्‌का रसास्वादन कर सकता है। केवल एक परम आत्म-उत्सर्ग ही परात्पर देवतक पहुँच पाता है। जो कुछ भी हम हैं, उन सबको यज्ञ द्वारा ऊपर उठा ले जानेसे ही हम सर्वोच्च देवको साकार रूपमें प्रकट करते और यहाँ परात्पर आत्माकी अन्तर्यामी चेतनामें निवास करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

●

: ४ :

दिव्य कर्म, जो मुक्तमें भी संभव

जब कर्ममार्गके साधककी खोज अपने स्वाभाविक रूपमें पूरी हो जाती या पूरी होने लगती है, तब भी उसके सामने एक प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि मुक्तिके बाद आत्माके लिए कोई कर्म शेष रहता है या नहीं, और यदि रहता है तो कौन सा तथा किस प्रयोजनके लिए ? समता उसकी प्रकृतिमें प्रतिष्ठित हो चुकी है और उसकी सम्पूर्ण प्रकृतिपर शासन करती हैं। अहं-बुद्धि, विस्तृत अहंभाव और अहंकारकी समस्त भावनाओं एवं प्रेरणाओं तथा उसकी स्वेच्छा और कामनाओंसे उसे आमूल मुक्ति प्राप्त हो गयी है। उसके मन और हृदयमें ही नहीं, उसकी सत्ताके सभी जटिल भागोंमें पूर्ण आत्म-निवेदन सम्पन्न हो चुका है। पूर्ण पवित्रता या त्रिगुणातीत अवस्था समरस ढंगसे प्रतिष्ठित हो गयी है। अन्तरात्माने अपने कर्मोंके स्वामीके दर्शन कर लिये हैं और वह उसीके सान्निध्यमें निवास करता है या उसीकी सत्तामें सचेतन रूपसे निहित रहता है, या उससे एकमय होकर रहता है अथवा उसे हृदयमें या ऊपर अनुभव करता तथा उसके आदेशोंका पालन करता है। उसने अपनी सच्ची सत्ताको जान लिया है और अज्ञानका आवरण उतार फेंका है। तब मनुष्यके अन्दरके कर्मीके लिए क्या कर्म शेष रहता है और किस हेतुसे, किस उद्देश्यके लिए तथा किस भावनासे वह किया जायगा ?

इसका एक उत्तर तो वह है, जिससे हम भारतमें खूब परिचित हैं : कर्म बिल्कुल रहता ही नहीं, केवल शेष रह जाती है निश्चलता। जब आत्मा 'परम' की शाश्वत उपस्थितिमें निवास कर सकता है अथवा जब वह परब्रह्मके साथ एक हो जाता है, तब हमारे जागतिक जीवनका लक्ष्य—यदि कहा जा सके कि इसका कोई लक्ष्य है—तुरन्त परिसमाप्त हो जाता है। आत्म-विभाजन तथा अज्ञानके अभिशापसे मुक्त मनुष्य इस दूसरे प्रकारके क्लेश अर्थात् कर्मोंके अभिशापसे भी मुक्त हो जाता है।

तब तो कर्म करना मात्र परम-स्थितिकी मर्यादासे उतरना और अज्ञानमें लौटना होगा ? जीवन-विषयक इस मनोवृत्तिके पक्षमें जो विचार प्रस्तुत किया जाता है, वह प्राणिक प्रकृतिकी एक भ्रान्तिपर आधृत है; क्योंकि प्राणिक प्रकृतिको अपने कर्मकी प्रेरणा तीन आशयोंमेंसे किसी एकसे या तीनोंसे प्राप्त होती हैं। ये आशय हैं : १. आवश्यकता, २. राजसिक प्रवृत्ति और ३. आवेग या कामना। प्रवृत्ति या आवेग शान्त हो जाने और कामनाके लुप्त हो, जानेपर कर्मोंके लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ? कोई यांत्रिक आवश्यकता तो रह सकती है, पर और किसी प्रकारकी आवश्यकता नहीं। वह भी शरीर छूटनेके साथ सदाके

लिए समाप्त हो जायगी। किन्तु यह सब होते हुए भी जबतक जीवन है, तबतक कर्म अनिवार्य है।

> केवल विचार करना भी या विचारके अभावमें केवल जीना भी अपने-आपमें एक कर्म है और अनेक कार्योंका कारण है। संसारमें विद्यमान सत्तामात्र—मिट्टीके ढेलेकी जड़ता और निर्वाणके किनारेपर पहुँचे हुए निश्चल बुद्धकी शान्ति भी—एक कर्म है, एक शक्ति एवं सामर्थ्य है और वह अपनी उपस्थितिमात्रसे समष्टिपर सक्रिय प्रभाव डालती है।

वास्तवमें प्रश्न तो है केवल कर्मके प्रकारका तथा उन करणोंका जो काममें लाये जाते हैं या जो अपने आप कार्य करते हैं। इसके साथ ही कर्म करनेवालेके भाव एवं ज्ञानका भी प्रश्न है।

सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, बल्कि प्रकृति अपनी अंतःस्थ शक्तिकी अभिव्यक्तिके लिए उसके द्वारा कर्म करती है। वह शक्ति उद्‌भूत होती है अनन्तसे। इसे जानना और कामना तथा अहंमूलक प्रेरणाके भ्रमसे मुक्त होकर प्रकृतिके स्वामीकी उपस्थिति तथा सत्तामें निवास करना ही एकमात्र आवश्यक वस्तु है। यही सच्चा मोक्ष है, न कि शरीर द्वारा कर्मका त्याग; क्योंकि कर्मोंका बंधन तो तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। कोई मनुष्य सदाके लिए स्थिर और निश्चेष्ट बैठा रहता है, फिर भी वह अज्ञानसे उतना ही बँधा हो सकता है, जितना एक पशु या कृमि। किंतु यदि वह इस महत्तर चेतनाको अपने अन्दर क्रियाशील बना सके, तो सब लोकोंके सब कर्म उसके हाथों सम्पन्न होते हुए भी वह निश्चल, पूर्णतया स्थिर एवं शांत और समस्त बंधनोंसे मुक्त रह सकता है।

> जगत्‌में कर्म हमें प्रथम तो अपने विकास और परिपूर्णताके साधनके रूपमें प्रदान किया गया है; पर चाहे हम चरम संभवनीय दिव्य आत्म-पूर्णतातक पहुँच जायँ, तो भी जगत्‌में दिव्य प्रयोजन तथा उस बृहत्तर विश्वात्माकी—जिसका प्रत्येक जीव एक अंश है, ऐसा अंश जो विश्वात्माके साथ ही परात्परतासे अवतीर्ण हुआ है—चरितार्थताके साधनके रूपमें कर्म विद्यमान रहेगा ही।

एक विशेष अर्थमें, जब मनुष्यका योग एक निश्चित शिखरतक पहुँच जाता है, तब उसके लिए कोई कर्म शेष नहीं रह जाता। कारण, तब उसे निजके लिए कर्मोंकी आवश्यकता नहीं रहती, न उसके अन्दर यह भाव होता है कि कर्म स्वयं मैं ही करता हूँ। फिर भी उसे कर्मसे भागने या आनन्दपूर्ण निष्क्रियताकी शरण लेनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। अब तो वह उसी प्रकार कर्म करता है, जिस प्रकार भगवान् कर्म करते हैं—बिना किसी अलंघ्य आवश्यकता और बिना किसी दुर्धर्ष अज्ञानके। वह कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता। वह व्यक्तिगत रूपसे कोई कार्य आरम्भ नहीं करता। भागवत शक्ति ही उसके अन्दर उसकी प्रकृति द्वारा कर्म करती है। उसका कर्म पराशक्तिके सहज प्रवाह द्वारा विकसित होता है। उसके करण अब उसी शक्तिके अधिकारमें होते हैं, वह उसीका एक अंग होता है, उसका संकल्प उसीके संकल्पसे एकमय होता है, उसकी शक्ति उसीकी शक्ति होती है। उसके अन्दरका

आत्मा उस कर्मको धारण करता, आश्रय देता और उसकी देख-देख करता है। वह ज्ञानमें उसके ऊपर अधिष्ठातृत्व करता है, पर आसक्ति या आवश्यकताके कारण इससे चिपट नहीं जाता, न इसके साथ बँध ही जाता है। न तो इसके फलकी कामनासे आबद्ध होता है और न किसी प्रवृत्ति या आवेगका दास बनता है।

यह समझना कि कामनाके बिना कर्म असंभव है या कम-से-कम निरर्थक है, एक आम भूल है। हमें बताया जाता है कि यदि कामनाका अन्त हो जाय तो कर्मका भी अन्त हो जायगा। किन्तु यह सिद्धान्त, अन्य अतिअज्ञानकल्पित सिद्धान्तोंकी भाँति, विभेदक और परिच्छेदक मनके लिए जितना आकर्षक है, उतना सच्चा नहीं है।

संसारमें होनेवाले कामका बहुत बड़ा भाग कामनाके किसी भी तरहके हस्तक्षेपके बिना संपन्न होता है। वह प्रकृतिकी शांत आवश्यकता तथा स्वाभाविक नियमके कारण चलता रहता है। मनुष्य भी सहज आवेग, अंतर्ज्ञान तथा प्रेरणाके वश निरन्तर नाना प्रकारके कार्य करता है। अथवा वह मानसिक आयोजना या सचेतन प्राणिक इच्छा या भावमय कामनाकी प्रेरणाके बिना शक्तियोंकी स्वाभाविक आवश्यकता और नियमके अनुसार ही काम करता है। कितनी ही बार उसका कार्य उसके संकल्प या उसकी कामनाके विपरीत होता है। यह किसी आवश्यकता या दबावके अधीन, किसी आवेगके वश, उसके अंदरकी जो शक्ति आत्माभिव्यक्तिके लिए प्रेरणा देती है उसकी आज्ञाके अनुकूल अथवा सचेतन रूपसे एक उच्चतर नियमके अनुसार उसके अन्दरसे निःसृत होता है।

कामना एक और प्रलोभन है, जिसे प्रकृतिने अपने अवान्तर उद्देश्योंके लिए अपेक्षित एक विशेष प्रकारका राजसिक कर्म संपन्न करनेके लिए चेतन प्राणियोंके जीवनमें महान् स्थान दिया है। किन्तु वह उसका एकमात्र इंजन नहीं है। यहाँतक कि यह प्रधान भी नहीं है। जबतक कामना रहती है तबतक उसका एक बड़ा लाभ भी होता है। यह हमें जड़तासे उठनेमें सहायता पहुँचाती है और अनेक तामसिक शक्तियोंका विरोध करती है; अन्यथा वे शक्तियाँ कर्मको रोक ही देतीं। लेकिन जो जिज्ञासु कर्ममार्गपर बहुत आगे बढ़ गया है, वह उस मध्यवर्ती अवस्थाको पार कर चुका है जिसमें कामना सहायक इंजन होती है। इसका वेग अब उसके कामके लिए अनिवार्य नहीं रहता, बल्कि वह अत्यन्त भयानक रूपमें बाधक होता है और स्खलन, अयोग्यता तथा विफलताको जन्म देता है।

दूसरे लोग वैयक्तिक रुचि या वैयक्तिक हेतुके अनुसार कार्य करनेको बाध्य होते हैं, पर उन्हें निर्वैयक्तिक या वैश्व मन द्वारा अथवा अनन्त पुरुषके अंग या यंत्रके रूपमें कार्य करना सीखना होगा। शांत उदासीनता, प्रसन्न तटस्थता या दिव्य शक्तिको आनन्दपूर्ण प्रत्युत्तर—भले ही उस शक्तिका आदेश कुछ भी क्यों न हो—यह एक आवश्यक अवस्था है, जिसमें वह कोई प्रभावपूर्ण कर्म कर सकता है या किसी सार्थक कार्यका बीड़ा उठा सकता है। उसे कामना एवं आसक्ति द्वारा नहीं, बल्कि उस संकल्प द्वारा परिचालित होना चाहिए जो दिव्य शांतिमें गतिमान् होता है; उस ज्ञान द्वारा जो परात्पर प्रकाशसे आता है और उस प्रसन्न संवेग द्वारा, जो परम आनन्दसे प्राप्त बल होता है। ●

: ५ :

ज्ञानका लक्ष्य : पूर्णज्ञान

आध्यात्मिक ज्ञानका विषय है परब्रह्म, भगवान्, अनन्त एवं निरपेक्ष सत्ता। यह परब्रह्म हमारी वैयक्तिक सत्ता तथा इस विश्वके साथ सम्बन्ध रखता है और जीव तथा जगत् दोनोंसे परे भी है। विश्व और व्यक्ति वही चीज नहीं, जो वे हमें प्रतीत होते हैं। हमारा मन और इन्द्रियाँ हमें उनका जो विवरण देती हैं वह मिथ्या विवरण है। वह एक अपूर्ण रचना तथा क्षीण एवं भ्रान्तिपूर्ण प्रतिमूर्ति है, जबतक कि वे उच्चतर अतिमानसिक एवं अतीन्द्रिय ज्ञानकी शक्तिसे प्रकाशित नहीं हो जाती। हमें जो विश्व और व्यक्ति प्रतीत होते हैं, वे उनके वास्तविक स्वरूपकी ही एक प्रतिमूर्ति हैं—एक ऐसी प्रतिमूर्ति जो अपनेसे परे, अपने पीछे अवस्थित वास्तविक सत्यकी ओर संकेत करती है।

हमारा मन और इन्द्रियाँ हमारे सम्मुख वस्तुओंके जो मूल्य प्रस्तुत करती हैं, उनके संशोधन द्वारा ही सत्य ज्ञान उदित होता है। सर्वप्रथम तो यह उस उच्चतर बुद्धिकी क्रिया द्वारा प्राप्त होता है, जो अज्ञानयुक्त इन्द्रिय-मानस तथा सीमित स्थूल-बुद्धिके निर्णयोंको यथासम्भव आलोकित तथा संशोधित करती है। समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञानकी यही पद्धति है। किन्तु इसके परे एक ऐसा ज्ञान एवं ऐसी सत्य-चेतना है, जो हमारी बुद्धिका अतिक्रमण कर हमें उस सत्य-प्रकाशके भीतर ले आती है, जिसकी यह एक विचलित रश्मि है। वहाँ शुद्ध तर्कबुद्धिकी अमूर्त परिभाषाएँ और मनकी रचनाएँ विलुप्त हो जाती हैं, अथवा अन्तरात्माकी प्रत्यक्ष दृष्टि एवं आध्यात्मिक अनुभवके अतिमहत् सत्यमें परिणत हो जाती हैं।

यह ज्ञान निरपेक्ष सनातनकी ओर मुड़कर जीव और जगत्को दृष्टिसे ओझल कर सकता है; लेकिन उस सनातनसे इह-सत्तापर दृष्टिपात भी कर सकता है। जब हम ऐसा करते हैं तो पता चलता है कि मन और इन्द्रियोंका अज्ञान तथा मानव-जीवनके सब वृथा प्रतीत होनेवाले व्यापार चेतना-सत्ताके निरर्थक विक्षेप नहीं, और न वे कोई क्षुद्र भ्रान्ति ही थे। यहाँ वे इस रूपमें आयोजित किये गये थे कि अनन्तसे उद्भूत होनेवाले आत्माकी स्व-अभिव्यक्तिके लिए एक स्थूल-क्षेत्रका काम करें, इस विश्वकी परिभाषाओंमें उसके आत्म-विकास एवं आत्मोपलब्धिके लिए भौतिक आधार बन सकें। यह सच है कि अपने आपमें उनका तथा यहाँकी सभी चीजोंका कुछ भी अर्थ नहीं। उनके लिए पृथक् अर्थोंकी परिकल्पना करना मायामें निवास करना है। फिर भी परम सत्में उनका एक परम अर्थ है, निरपेक्ष ब्रह्ममें उनकी एक निरपेक्ष शक्ति है और वही उनके लिए उनके वर्तमान सापेक्ष मूल्य नियत करती तथा उस सत्यके साथ उनका सम्बन्ध निर्दिष्ट करती है। यह एक ऐसा अनुभव है जो सब अनुभवोंको एक कर देता है और जो गम्भीर-से-गम्भीर सर्वांगीण तथा अत्यन्त आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञानका आधार है।

व्यक्तिके साथ सम्बन्धकी दृष्टिसे परम सत् हमारा अपना ही सच्चा और सर्वोच्च आत्मा है। यह वह सत्ता है, जो अन्ततः हमारे अपने साररूपमें हैं तथा अपनी अभिव्यक्त प्रकृतिमें जिसके हम अंग हैं। हमें अपने अन्दर अवस्थित सच्चे परम आत्माको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त आध्यात्मिक ज्ञानको परम्परागत ज्ञानमार्गकी भांति समस्त भ्रामक प्रतीतियोंका परित्याग करना होगा।

हमें यह जान लेना होगा कि शरीर हमारा आत्मा नहीं; वह हमारी सत्ताका आधार नहीं। वह अनन्तका एक इन्द्रियग्राह्य रूप है। यह अनुभव कि जड़-प्रकृति जगत्का एकमात्र आधार है और भौतिक मस्तिष्क, स्नायु, कोष्ठक और अणु हमारे अन्दरकी सभी चीजोंका एकमात्र सत्य है, जड़वादका एक भारी-भरकम एवं अक्षय आधार है। लेकिन वास्तवमें यह अनुभव एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है, जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है। यह वस्तुओंकी अन्धकारमय भित्ति या छाया है, जिसे भ्रान्तिवश प्रकाशमान सारतत्त्व मान लिया गया है। यह शून्यकी प्रभावशाली आकृति है, जिसे पूर्ण इकाई समझ लिया गया है। जड़वादी विचार एक रचनाको रचनाकारी शक्ति समझनेकी भूल करता है तथा अभिव्यक्तिके साधनको वह सत्ता समझ लेता है, जो व्यक्त की जाती तथा व्यक्त करती है। जड़तत्त्व और हमारा भौतिक मस्तिष्क, स्नायुजाल तथा शरीर उस प्राणिक शक्तिकी एक क्रियाका क्षेत्र और आधार है जो आत्माको उसकी कृतियोंके रूपके साथ सम्बद्ध करनेमें सहायक होते और उन्हें उसकी सीधी क्रियाशक्ति द्वारा धारण करते हैं। जड़तत्त्वकी गतियाँ एक बाह्य संकेत है जिसके द्वारा आत्मा अनन्तके कुछ सत्योंके विषयमें अपने बोधोंको निरूपित करता है और उन्हें उपादान-तत्त्वकी अवस्थाओंमें प्रभावकारी बनाता है। ये चीजें एक भाषा एवं संकेतमाला हैं। अपने-आपमें ये उन चीजोंकी एक चित्रलिपि एवं प्रतीक-पद्धति है, जिसे ये सूचित करती हैं। ये गम्भीरतम एवं सत्यतम आशय नहीं।

इसी प्रकार प्राणतत्त्व भी हमारी आत्मा नहीं, जो 'प्राणशक्ति' एवं 'ऊर्जा' भी कहलाती है और मस्तिष्क, स्नायुपुंज तथा शरीरमें क्रीड़ा करती है, वह अनन्तकी एक शक्ति तो है, पर समग्र शक्ति नहीं। यह अनुभव कि 'एक प्राणशक्ति है ओ जड़तत्त्वको सब वस्तुओंके आधार, उद्गम एवं सच्चे कुल-योगके रूपमें अपना करण बनाती है', प्राणात्मवादका एक दोलायमान अस्थिर आधार है। लेकिन यह एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है, जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है। पासके किनारे पर उठनेवाली एक ज्वारको गलतीसे सम्पूर्ण समुद्र और उसकी जलराशि समझ लिया गया है। प्राणात्मवादी विचार एक शक्तिशाली विचार है, पर वह बाह्य वस्तुको सारतत्त्व समझ लेता है।

वास्तवमें प्राणशक्ति तो अपनेसे परेकी एक चेतनाका क्रियाशील रूप है। वह चेतना अनुभूत होती तथा कार्य करती है, पर बुद्धिमें हमारे लिए प्रामाणिक रूप तबतक नहीं प्राप्त करती जबतक हम 'मन'-रूपी उच्चतर स्तरतक, अपनी वर्तमान सर्वोच्च अवस्थातक नहीं पहुँच जाते। यहाँ 'मन' प्रत्यक्षतः प्राणकी ही एक रचना प्रतीत होता है, पर वास्तवमें यह स्वयं प्राणका तथा उसके पीछे अवस्थित वस्तुका एक दूरतर, पर अन्तिम नहीं, आशय

है और उसके रहस्यका एक अधिक सचेतन रूपायण है। 'मन' प्राणकी नहीं, वरन् उस वस्तुकी अभिव्यक्ति है, जिसकी स्वयं प्राण भी एक कम प्रकाशमय अभिव्यक्ति है।

किन्तु 'मन' भी अर्थात् हमारी मानसिक सत्ता, हमारा चिन्तनशील एवं बोधग्राही भाग भी हमारा आत्मा नहीं है; 'तत्' नहीं है, अन्त या आदि नहीं है। यह अनन्तसे फेंका गया एक अर्धप्रकाश है। यह अनुभव कि मन रूपों और पदार्थोंका स्रष्टा है और ये रूप तथा पदार्थ केवल मनमें ही अस्तित्व रखते हैं, वाह्यशून्यवाद (Idealism) का विरल एवं सूक्ष्म आधार है, एक भ्रम है, एक अधूरी दृष्टि है जिसे पूरी दृष्टि समझ लिया गया है। वह एक मन्द और विचलित प्रकाश है, जिसकी सूर्यके जाज्वल्यमान शरीर एवं उसके तेजके रूपमें एक आदर्श-कल्पना कर ली गयी है। यह आदर्शीकृत दृष्टि भी सत्ताके सारतत्त्वतक नहीं पहुँचती, उसका स्पर्शतक नहीं करती। यह तो केवल प्रकृतिकी एक निम्न-अवस्थाको ही छूती है। 'मन' एक चिन्मय सत्ताकी अस्पष्ट वाह्य उपच्छाया है। वह चिन्मय-सत्ता मन द्वारा सीमित नहीं, वल्कि उससे अतीत है। परम्परागत ज्ञानमार्गकी पद्धति इन सभी चीजोंका परित्याग करके उस शुद्ध चिन्मय सत्ताकी परिकल्पना एवं उपलब्धिपर पहुँचती है जो स्वतः सचेतन, स्वतः आनन्दपूर्ण है और मन, प्राण तथा शरीर द्वारा सीमित नहीं है। इसके चरम भावात्मक अनुभवके लिए वह आत्मा है, अर्थात् हमारी सत्ताका मूल और तात्त्विक स्वरूप है।

यहाँ अन्तमें कोई ऐसी वस्तु प्राप्त होती है जो केन्द्रीय रूपसे सत्य है। किन्तु वहाँ-तक पहुँचनेकी उतावलीमें यह ज्ञान कल्पना करता है कि चिन्तनात्मक मन तथा 'परम', बुद्धेः परतस्तु सः के बीच किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं है और समाधिमें अपनी आँखें मूँदकर आत्माके इन महान् तेजोमय साम्राज्योंको देखे बिना ही, उन सब स्तरोंमेंसे जो सचमुच ही रास्तेमें पड़ते हैं, भाग जानेका यत्न करता है। शायद यह अपने लक्ष्यपर पहुँच जाता है, पर पहुँचता है केवल अनन्तमें सुषुप्ति-लाभ करनेके लिए ही। अथवा यदि यह जागरित रहता भी है, तो उस परमके सर्वोच्च अनुभवमें ही, जिसमें आत्मोच्छेदक 'मन' प्रवेश कर सकता है, न कि परात्परमें।

'मन' मानसभावापन्न आध्यात्मिक सूक्ष्मतामें केवल आत्माका, मनमें प्रतिबिम्बित सच्चिदानन्दका ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। लेकिन सर्वोच्च सत्य एवं पूर्ण आत्म-ज्ञान निरपेक्ष ब्रह्ममें इस प्रकार की अन्धी छलाँग लगाकर नहीं, वरन् मनके परे धैर्यपूर्वक उस सत्य-चेतना-में पहुँचकर प्राप्त किया जा सकता है, जहाँ अनन्तको उसके सम्पूर्ण, अन्तहीन ऐश्वर्यसहित जाना और अनुभव किया जा सकता है—देखा तथा उपलब्ध किया जा सकता है। वहाँ हमें पता चलता है कि यह आत्मा, जो हमारी अपनी सत्ता है, केवल स्थितिशील सूक्ष्म एवं शून्य आत्मा नहीं है; बल्कि व्यक्ति और विश्वमें तथा विश्वके परे विद्यमान महान् गतिशील आत्मा है। उस आत्मा एवं आत्मतत्त्वको मनकी बनायी अमूर्त व्याप्तियों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऋषियों और रहस्यदर्शियोंके समस्त अन्तःप्रेरित वर्णन उसके अन्द निहित अर्थों और ऐश्वर्योंको शेष नहीं कर सकते।

विश्वके साथ सम्बन्धकी दृष्टिसे यह परम सत् ब्रह्म है। वह एकमेव सद्वस्तु है जो विश्वके सभी विचारों, शक्तियों और आकारोंका आध्यात्मिक, भौतिक एवं सचेतन उपादान ही नहीं है; बल्कि उनका उद्गम, आश्रय और स्वामी भी है। अर्थात् विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है। वे सब अन्तिम परिभाषाएँ भी, जिनमें हम इस विश्वका विश्लेषण कर सकते हैं, अर्थात् शक्ति और जड़तत्त्व, नाम और रूप, पुरुष और प्रकृति बिलकुल वही नहीं हैं जो कुछ कि विश्व अपने-आपमें या अपनी प्रकृतिमें वस्तुतः है। जिस प्रकार हम जो कुछ हैं वह सब मन-प्राण-शरीरसे अपरिच्छिन्न परम आत्माकी क्रीड़ा है, उसका एक रूप है, उसकी मानसिक, आन्तरात्मिक, प्राणिक और भौतिक अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार विश्व भी उस परम सत्ताकी लीला एवं रूप है; उसकी विराट् जीवगत और प्रकृतिगत अभिव्यक्ति है—जो सत्ताकी शक्ति और जड़तत्त्वसे परिच्छिन्न नहीं है, विचार, नाम और रूपसे सीमित नहीं है तथा पुरुष और प्रकृतिके मौलिक भेदसे आबद्ध भी नहीं है।

हमारा परम आत्मा और वह परम सत्ता, जिसने इस विश्वका रूप धारण किया है, एक ही आत्मतत्त्व है। एक ही आत्मा और एक ही सत्ता है। व्यक्ति तो अपनी प्रकृतिमें वैश्व पुरुषकी एक अभिव्यक्ति है और अपनी आत्मामें परात्पर सत्ताकी एक अंशविभूति है। क्योंकि यदि वह अपनी आत्माको उपलब्ध कर ले तो वह यह भी जान जाता है कि उसकी सच्ची आत्मा यह प्राकृत व्यक्तित्व एवं यह निर्मित व्यष्टिभाव नहीं है, बल्कि दूसरोंके साथ तथा प्रकृतिके साथ अपने सम्बन्धोंमें वह एक वैश्व-सत्ता है तथा अपने ऊर्ध्वमुख स्वरूपमें परम विश्वातीत आत्माका एक अंश या जीवन्त अग्रभाग है।

यह परम सत्ता व्यक्ति या विश्वसे परिच्छिन्न नहीं है। अतएव, आध्यात्मिक ज्ञान परम आत्माकी इन दो शक्तियोंका अतिक्रम कर, यहाँतक कि इन्हें त्यागकर एक ऐसी वस्तुकी परिकल्पनापर पहुँच सकता है जो पूर्णतया परात्पर है, जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता और न मन द्वारा जाना ही जा सकता है, जो शुद्ध निरपेक्ष ब्रह्म है। परम्परागत ज्ञानमार्ग व्यक्ति और विश्वका परित्याग कर देता है। जिस निरपेक्षकी वह खोज करता है वह निराकार, अनिर्देश्य, असंग है, वह न यह है न वह : **नेति नेति**।

फिर भी हम उसके बारेमें कह सकते हैं कि वह एकमेव है, वह अनन्त है, वह अनिर्वचनीय आनन्द-चित्-सत् है। यद्यपि वह मन द्वारा ज्ञेय नहीं है, तथापि अपनी वैयक्तिक सत्ता द्वारा तथा विश्वके नामरूपों द्वारा हम परम आत्मा अर्थात् ब्रह्मकी उपलब्धिके निकट पहुँच सकते हैं और उस परमात्माकी उपलब्धि द्वारा उस पूर्ण-निरपेक्षकी किसी प्रकारकी उपलब्धितक भी पहुँच जाते हैं—उस निरपेक्षकी, जिसका कि हमारा सच्चा आत्मा ही हमारी चेतनामें विद्यमान वास्तविक स्वरूप है। यदि मानव-मनको अपने सम्मुख परात्पर और अपरिच्छिन्न निरपेक्षकी कोई परिकल्पना निर्मित करनी ही हो, तो उसे विवश होकर इन्हीं उपायोंका प्रयोग करना पड़ेगा।

अपनी निजी परिभाषाओं और अपने सीमित अनुभवसे छुटकारा पानेके लिए निषेधकी प्रणाली इसके लिए अपरिहार्य ही है। इसे बाध्य होकर अनिश्चित अपरिच्छिन्नमें से अनंतकी

ओर चले जाना पड़ता है। क्योंकि यह उन धारणाओं और प्रतिरूपोंके बन्द कारागृहमें निवास करता है, जो इसकी क्रियाके लिए तो आवश्यक है, पर जड़तत्त्व या प्राणका अथवा मन या आत्माका स्वयंस्थित सत्य नहीं है। किन्तु यदि हम एकबार मनके सीमांतके क्षीण आलोकको पारकर अतिमानसिक ज्ञानके वृहत् स्तरमें पहुंच पायें तो ये उपाय अनिवार्य नहीं रह जाते। अतिमानसको परय अनंत सत्ताका एक बिलकुल ही और प्रकारका, भावात्मक, प्रत्यक्ष और जीवन्त अनुभव प्राप्त है। निरपेक्ष ब्रह्म व्यक्तित्व और निर्व्यक्तित्वसे परे है, फिर भी वह निर्व्यक्तिक तथा परम व्यक्ति और सभी व्यक्ति दोनों हैं।

निरपेक्ष ब्रह्म एकत्व और बहुत्वके भेदसे परे हैं, फिर भी वह 'एक' है तथा समस्त जगतोंमें असंख्य या 'बहु' भी है। वह सभी गुणकृत सीमाओंसे परे है, फिर भी निर्गुण शून्य द्वारा सीमित नहीं, बल्कि अशेष-अनन्त गुण-गुणोंसे सम्पन्न भी है। वह व्यष्टिगत जीव और सभी जीव तथा उनसे अधिक भी है। वह निराकार ब्रह्म भी है और विश्व भी। वह विश्वगत और विश्वातीत आत्मा है, परम प्रभु और परम आत्मा है, परम पुरुष और पराशक्ति है। वह निराकार ब्रह्म भी है। नित्य अजन्मा है जो अनन्त रूपसे जन्म लेता है। अनन्त है जो असंख्य रूपोंसे सान्त है। बहुमय 'एक' है, जटिलतामय 'सरल' है। अनेकपक्षीय 'एकमेव उत्तर' है। अनिर्वचनीय नीरवताका शब्द है। निर्व्यक्तिक सर्वव्यापी व्यक्ति है। परम रहस्य है जो उच्चतम चेतनामें अपने आत्माके प्रति प्रकाशमान है पर अपने निरतिशय प्रकाशमें हीनतर चेतनाके प्रति आवृत है तथा उसके द्वारा सदाके लिए अभेद्य है।

परिमाणात्मक मनके लिए ये चीजें ऐसे परस्पर-विरोधी तत्त्व है, जिनमें समन्वय नहीं किया जा सकता। पर अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी अटल दृष्टि और अनुभूतिके लिए ये इतने सरल और अनिवार्य रूपमें एक दूसरेकी आभ्यंतरिक प्रकृतिसे युक्त हैं कि इन्हें विरोधी वस्तुएँ समझना भी एक अकल्पनीय अन्याय है। परिमापक और पृथक्कारक बुद्धिकी रची दीवारें उस चेतनाके सामने विलुप्त हो जाती हैं और सत्य अपने सरल-सुन्दर रूपमें प्रकट होकर सब वस्तुओंको अपने सामंजस्य, एकत्व और प्रकाशकी परिभाषाओंमें परिणत कर देता है। परिमाण और विभेद रहते तो हैं, पर स्व-विस्मृतिपूर्ण आत्माके लिए एक पृथक्कारक कारागृहके रूपमें नहीं, बल्कि उपयोगयोग्य आकृतियोंके रूपमें।

परात्पर निरपेक्ष ब्रह्मसे सचेतन होना और साथ ही वैयक्तिक तथा वैश्व-सत्तापर पड़नेवाले उसके प्रभावसे सचेतन होना ही चरम एवं सनातन ज्ञान है। हमारे मन नाना पद्धतियोंसे इस ज्ञानका विवेचनकर सकते हैं, इसके आधारपर विरोधी दर्शनोंकी रचना कर सकते हैं। इसे सीमित एवं संशोधित कर सकते हैं। इसके किन्हीं पहलुओंपर बहुत ही अधिक बल दे सकते हैं और दूसरोंपर बहुत कम। इससे शुद्ध या अशुद्ध निष्कर्ष निकाल सकते हैं। किन्तु हमारे बौद्धिक विभेदों और अपूर्ण निरूपणोंसे इस अन्तिम तथ्यमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि यदि हम विचार और अनुभवको इनके अन्तिम छोर तक ले जायें, तो जिस ज्ञानमें ये परिसमाप्त होंगे वह यही है।

अध्यात्मज्ञानके योगका लक्ष्य इस सनातन सद्वस्तु, इस आत्मा, इस ब्रह्म किंवा इस परात्परके सिवा और कोई नहीं हो सकता जो सबके ऊपर और अन्दर अवस्थित है तथा जो व्यक्तिमें अभिव्यक्त होता हुआ भी छिपा हुआ है, विश्वमें प्रकट होकर भी प्रच्छन्न है।

ज्ञानमार्गकी सर्वोच्च परिणतिका आवश्यक रूपमें यह अर्थ नहीं कि अस्तित्व समाप्त हो जायगा। कारण जिस परम सत्के सदृश हम अपने आपको ढालते हैं, जिस निरपेक्ष और परात्पर ब्रह्ममें हम प्रवेश करते हैं वह सदा ही उस पूर्ण और चरम-परम चेतनासे युक्त रहता है जिसकी हम खोज कर रहे हैं; फिर भी उसके द्वारा वह जगत्में अपनी लीलाको आश्रय देता है।

हम यह माननेके लिए भी बाध्य नहीं हैं कि हमारा जागतिक अस्तित्व इसलिए समाप्त हो जाता है कि ज्ञानकी प्राप्तिसे इसका उद्देश्य या परिणति पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है और इसलिए उसके बाद हमारे लिए यहाँ और कुछ पानेको नहीं रह जाता। क्योंकि आरम्भमें हमारी प्राप्ति केवल यही होती है कि व्यक्ति अपनी चेतन-सत्ताके सारतत्त्वमें आत्माको सनातन रूपसे उपलब्ध कर लेता है और इसके संग मुक्ति, अपरिमेय नीरवता और शान्ति भी अधिगत हो जाती है। उस आधारपर ब्रह्मकी अनन्तमुखी आत्म-चरितार्थता साधित करने, व्यक्तिमें तथा उसकी परिस्थिति द्वारा एवं उसके दृष्टान्त और कार्य-व्यवहार द्वारा दूसरोंमें एवं समूचे विश्वमें ब्रह्मकी क्रियाशील दिव्य अभिव्यक्तिको साधित करनेका कार्य फिर भी शेष रहेगा। नीरवता इस कार्यको निराकृत नहीं कर देती। यह मोक्ष एवं स्वातन्त्र्यके साथ भी एकीभूत है। यह वह कार्य है जिसे करनेके लिए महान् व्यक्ति इस जगत्में जीवन धारण किया करते हैं।

जबतक हम अहंमय चेतनामें, मनके प्रकाशमें बन्धनमें निवास करते हैं तबतक हमारी क्रियाशील आत्म-चरितार्थता साधित नहीं हो सकती। हमारी वर्तमान सीमित चेतना तो केवल तैयारीका क्षेत्र हो सकती है। वह पूर्णरूपमें कुछ भी साधित नहीं कर सकती; क्योंकि यह जो कुछ भी प्रकट करती है वह सब अहं-अधिष्ठित अज्ञान और भ्रान्तिसे पूर्णतया दूषित होता है। अभिव्यक्त जगत्में ब्रह्मकी सच्ची और दिव्य आत्म-चरितार्थता ब्राह्मी चेतनाके आधारपर ही साधित हो सकती है अतएव यह तभी सम्भव हो सकता है जब मुक्त जीव अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष जीवनको अपनाये।

यह है पूर्णज्ञान, क्योंकि हम जानते हैं कि सब जगह और सभी अवस्थाओंमें देखने-वाली आँखके लिए सब कुछ वह 'एक' ही है, दिव्य अनुभवके प्रति सब कुछ भगवान्‌की एक ही समष्टि है। केवल हमारा मन ही अपने विचार और अभीप्साकी क्षणिक सुविधाके लिए एकत्वके एक तथा दूसरे पक्षके बीच कठोर विभाजन की कृत्रिम रेखा खींचने एवं उनमें सतत असङ्गतिकी कल्पना करनेका यत्न करता है।

मुक्त-ज्ञानी इस जगत्में बद्ध जीव और अज्ञानी मनकी अपेक्षा अधिक ही निवास करता तथा कर्म करता है, कम नहीं। वह सभी कर्म करता है, सर्वकृत्, पर है, करता है सच्चे ज्ञान और महत्तर चेतन-शक्तिके साथ। ऐसा करनेसे वह परम एकत्वको गँवा नहीं देता, न परम चेतना और सर्वोच्च ज्ञानसे नीचे ही गिरता है। क्योंकि परम सत् इस समय चाहे हमसे कितना ही छिपा हुआ क्यों न हो, यहाँ—इस जगत्में भी उससे कम विद्यमान नहीं है, जितना कि वह अत्यन्त पूर्ण और अनिर्वचनीय आत्मलयमें एवं अत्यन्त असहिष्णु निर्वाणमें हो सकता है। ●

उतरो, देवि ! किरण-माला-सी !

अंधकार से भरे हृदय में, उतरो देवि किरण-माला-सी !
ध्वनिकी सर्वाधार कल्पना, विश्वरूपमयि पावन प्रतिमा,
ज्योतिर्घन-सी नित-नव सुन्दर, तुम किस छविकी अमिट मधुरिमा ?
मां ! अनन्त भावोंकी महिमा तुम ममता की मूर्ति मधुर हो,
श्याम - सलोने विश्व-नयनमें तुम श्रद्धा - विश्वास प्रचुर हो।
भुज विशालमें संसृति बन्दी, अमर दुलार - विभव की कारा,
प्यार प्रवाह प्रकट वसुधापर, तुम करुणाकी मधुकी धारा।
ज्वलित शिखा-सी, स्वर्ण-प्रभा-सी, दिव्यलोककी विधु-बाला-सी।
अन्धकारसे भरे हृदयमें, उतरो देवि ! किरण - माला - सी।

सूक्ति सुधा-रस-कण छन्दोंके इन प्यासे प्राणोंमें भर दो।
पद - अरविन्द - पराग - प्रभासे, यह नत भाल अलंकृत कर दो।
देवि सिखा दो कवि को अपने उन नयनोंकी नीरव भाषा।
जिनकी चितवनपर बलि जाती, जीवनकी सारी अभिलाषा।

छू लेने दो चरण - युगल वे, भाव - प्रसून मलय - चन्दनसे।
फिर कवि कर दे व्योम विकम्पित, माँके गौरव गुण-अंजनसे।
उन चरणोंसे यह लघु जीवन, और साधना मिल जाने दो।
छिपकर उस असीम अंचलमें, मां ! विस्तार मुझे पाने दो।

जिसको पाकर पीड़ित जगका, एकबार सब कुछ मधुमय हो।
मुझमें उस अनादि प्रतिमाका, नव - कोमल आलोक उदय हो।
उठ न सकें फिर जगके आहत, मलिन भाव सब जिसके मारे।
जय हो ! जय हो ! सदा विजय हो ! उस कटाक्षकी जननि तुम्हारे।

—श्री राजेन्द्रनारायण शर्मा

श्री अरविन्दके सप्त-सिन्धु

श्री मती विद्यावती 'कोकिल'

★

कवि, योगी, द्रष्टा और नवस्रष्टा श्री अरविंदके विषयमें अभी भी काफी अल्पज्ञता व्याप्त है, क्योंकि मानव-दृष्टि अनन्त आकाशको झरोंखोंसे ही देखनेकी आदी है। उनकी योगदृष्टि समग्र थी और व्यक्तित्व था एक पूर्णवृत्तके समान। हम मानव-दृष्टिसे अक्सर एक चाप ही देख पाते है, बाकी छोड़ देते हैं। उनके पुराने परिचित अक्सर उन्हें एक क्रान्तिकारी देश-भक्त ही मानते रहे। उनके योगीका स्वरूप उन्हें अस्पष्ट-सा रहा। पीछेके पांडिचेरी-जीवनमें जिन्होंने उनके दर्शन किये, वे उन्हें एक ऐसा योगी मानते हैं जिसने संसारसे संन्यास ले लिया हो। जिन्होंने केवल उनकी पुस्तकें पढ़ीं और जो उनके निकट नहीं आ सके, उनकी भ्रान्तियाँ दूसरे ही प्रकारकी हैं। श्री अरविंद कई भाषाओंके प्रकांड विद्वान् तो थे ही : **अलप काल विद्या सब आयी**। उनके लिखनेका तरीका भी निराला ही रहा। जो कुछ कहना होता, वह किसी अनुभूत सत्य-स्रोतसे धारा-प्रवाह फूटता आता। भाषाकी अलौकिक सम्पन्नता थी ही। अध्येता उस धारा-प्रवाहको बुद्धिसे संभाल नहीं पाते इसीलिए कहते हैं। 'भाई, यह बड़ा साहसी लेखक था, बड़ा श्रम किया है, कल्पनाकी उड़ानें बहुत ऊँची हैं।' वे यह नहीं जानते कि लिखनेके समय उन्हें श्रम नहीं करना पड़ता था, वाणी उतरती चली आती थी। उस वाणीमें कहीं कल्पना नहीं, सारा भावीका सुव्यवस्थित विधान है। हाँ, उसी विधानको सत्य करनेके लिए मानवको अभी बहुत तप करना है।

श्री अरविन्दके कविरूपके विषयमें तो लोग बहुत ही थोड़ा जानते हैं, जब कि उनका कहना था कि 'मैं पहले कवि हूँ और पीछे योगी।' कारण, जिस स्तरपर वे लिखते हैं, वहां कवि, द्रष्टा, योगी और स्रष्टामें अन्तर नहीं होता। वह कवि ब्रह्म-सहोदर है। जिस स्रष्टाने सृष्टिकी रचना की, वह भी एक कवि ही था। कवि एक स्रष्टा होता है और स्रष्टा एक कवि !

श्री अरविन्दने अपने तपसे भूतकालीन सारी चेतनाकी आहुति देकर एक नयी और पूर्ण चेतनाकी सृष्टिका प्रारम्भ किया। उनके जाज्वल्यमान साहित्यका पुराने विकाससे केवल क्रमिक सम्बन्ध नहीं है। इसका स्तर न मात्र नैतिक है और न धार्मिक, वह तो एक दिव्य ही विकास-क्रमका जन्म है। उनका आश्रम इस दिव्य जीवनके प्रयोगका एक जीवंत उदाहरण है। विश्वके अन्तरकी पूर्णताकी प्यास और जिज्ञासाको, जो कहीं अन्धकारमें डूब गयी थी, उन्होंने फिरसे जन्म दिया।

उनकी चेतना अपनी इस नयी सृष्टिपर एक सूर्यकी भाँति प्रभा बिखेर रही है, जो दिन-रात उसको प्रेरणासे भर रही है। उनका आश्रम जीवनके विशाल क्षेत्रकी एक महा-प्रयोगशाला है, जो हमें इस नयी दिशामें जीना सिखा रही है। उनके ग्रन्थ, उनकी महती कृतियाँ नयी पृथिवीके वे सप्त-सिन्धु हैं, जो जीवनको प्राणित, पुष्पित और फलित करनेके लिए सदा सिंचन-स्रोत बने रहेंगे।

श्री अरविन्दके सम्पूर्ण ग्रन्थोंका आशय एक ही नित्य सत्य है, उनकी लय एक ही है—यही कि इस जगत्के मूलमें वह 'सत्' ही छिपा है, वही सच्चिदानन्द है। जड़ जगत् उसीकी प्रथम अभिव्यक्ति है। प्राण और मन उसीमेंसे विकसित हुए हैं और इस विकासकी क्रियाको बढ़ते-बढ़ते भागवत-चेतना तक पहुँचना है। मानव-चेतना तो एक मध्यावस्थाका नाम है। इसी पृथिवीपर पूर्ण दिव्य जीवनको संभव बनना है। यही संसारका सत्य है, वास्तविकता है। इसी सत्यको उनकी वाणीने नाना सामंजस्यों, सौंदर्यों और आनन्दोंमें प्रकट किया है। बुद्धि और भावनाके विभिन्न स्तरोंपर विभिन्न विधाएँ अपनायी गयी हैं। पर जो कुछ भी वे कहते हैं, सभी कुछ एक मनसातीत स्रोतसे प्रवाहित होता है। प्रत्येक स्तरपर उनकी शैलीमें चमत्कृत कर देनेवाला एक सामंजस्य होता है। अद्वितीय ढंगसे अनुभूत किया हुआ एक सत्य-दर्शन होता है, जो जीवनके अनुभवोंको प्रकाशित करनेकी अद्भुत शक्ति रखता है। चाहे बुद्धिके स्तरपर बात कही जा रही हो या भावनाके स्तरपर, उसमेंसे विचार और अनुभव ऐसे खुलते चलते हैं, जैसे फूलकी कली अपना सारा सौंदर्य और सुगन्धि लेकर विकसित होती है। प्रत्येक फूल विभिन्न स्तरोंपर प्रकट हुई नये-नये सामंजस्योंकी एक भंगिमा ही तो है और है, एक निराले संसारका प्रतीक। इसी प्रकार उनके गद्य और पद्यकी शैलियाँ हैं। वे विभिन्न होती हुई भी एक ही आशयको व्यक्त करती हैं।

(१) जिन ग्रन्थोंमें वे लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ उपस्थित करते हैं, जैसे The life Divine ('दिव्य-जीवन') वहाँ भी व्याख्याका आधार सत्य-दर्शन ही होता है। अतः गद्यमें होते हुए भी उसमें एक पद्यका सामंजस्य मिलता है। इसी तरह बुद्धिवादियों और दार्शनिकोंको तर्क और समाधान देते हुए वे चमत्कृत करते चले जाते हैं। हर जगह एक पूर्णताकी भावना और रूपान्तरित कर देनेवाली व्याख्या मिलती है। विस्तार और गहराई, दोनों दृष्टिसे यह ग्रन्थ एक महासागर ही है। निश्चय ही इन विचारोंको जीवनमें चरितार्थ भी करना होगा, क्योंकि 'दिव्य-जीवन' सत्यका एक लेखा है।

(२) श्री अरविन्दका The Synthesis of Yoga ('योग समन्वय') एक अद्भुत ग्रन्थ है। यह एक दूसरा ही सागर है। इसे हम अन्तर्विकास या आध्यात्मिक विज्ञानका एक सुसंगठित शास्त्र ही कहेंगे। इसके सहायक ग्रन्थ भी बड़ी संख्यामें फैले हैं। इस विषयपर पत्रों, वार्तालापों और प्रश्नोत्तरोंकी तो एक लम्बी परम्परा है। इन सबमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग और राजयोग आदि सभी प्राचीन योग-प्रणालियोंका एक साथ समन्वय मिलता है; और मिलती है एक पूर्णयोगकी भावना। उनका कहना है: 'सारा जीवन ही योग है।' सारी प्रकृति जिस महा-सत्यसे च्युत हो गयी थी, उसीको पानेके लिए जाने या

अनजाने बढ़ो जा रही है। पूर्ण चैतन्यरूपसे उसे पा लेना ही मानवका चरम लक्ष्य है। यही उनकी भाषामें 'आत्मसिद्धि-योग' है।

(३) वेदोंका ज्ञान सत्य-ज्ञान है, उनकी सारी विचारधारा उसीमें मूलित है। श्री अरविन्दने बड़ी ही कुशलतासे अपने योग द्वारा सभी आधुनिक समस्याओंका स्वाभाविक समाधान उपस्थित करते हुए सत्यकी नवीन कुञ्जी पकड़ायी है, जिससे वेदज्ञानका एक विशद और नया रहस्योद्घाटन हुआ है। उसमें वेद-उपनिषत्कालके बाद आयी विचार और दर्शनकी सारी ऊँची-नीची तानोंका समन्वय है। वेद-कालके बाद ज्यों-ज्यों जन-जीवन विस्तृत, परिवर्धित और जटिल होता गया त्यों-त्यों असंगतियाँ आती चली गयी हैं। वेद-विचारको उसके आदि-गर्भसे उठाकर सारी असंगतियोंके कारणोंको दिखाते हुए और एक माताके महाश्लेषमें भरते हुए उन्होंने गहनतम समाधान किये हैं। किसी भी ज्ञान-विज्ञानको और जीवनमुखी दिशाको उनके सत्यनिष्ठ विचारोंमें अपना सत्य हठात् ही मिल जाता है। हमारे मुखसे अभिभूत होकर निकल पड़ता है कि भारतीय मनका यह चिन्तन, आत्माका यह दर्शन अद्भुत है ! इस प्रसंगमें हम उनके विशाल ग्रन्थ १. वेद-रहस्य, २. उपनिषदोंकी व्याख्या, ३. Hymus to the mystic Fire, ४. गीता-प्रवन्ध और साथ ही इधर-उधर छिटका विपुल साहित्य ले सकते हैं। यह एक तीसरा ही सागर है।

(४) लोगोंकी धारणा है कि प्रायः दार्शनिकों और रहस्यवादियोंको संसारकी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओंसे कुछ मतलब नहीं होता। किन्तु श्री अरविन्दकी दो विशाल पुस्तकोंने हमारी आँखें खोल दी हैं और उनकी भविष्यवाणियोंने सच होकर आज हमें चमत्कृत कर दिया है। इतना तो हम जानते ही हैं कि उनकी राजनीतिने भारतमें नये प्राण ही फूँक दिये थे। उनके नेतृत्वमें नवयुवकोंने एक नयी बलि-नीति सीखी थी, जिसने उन्हें आत्मनिष्ठ होकर मरना और मारना सिखाया और भारत स्वतन्त्रताके द्वारतक पहुँच गया। श्री अरविन्दके क्रान्तिकारी नेतृत्वकी कहानी उनके चलाये 'वन्दे मातरम्' आदि पत्रोंमें लिखी पड़ी है, जो उस समयके सबसे प्रसिद्ध पत्र हैं और देशभक्तिके लिए ही नहीं, अपितु सम्पादन-कला और अपनी मार्मिक भाषाके लिए भी प्रसिद्ध हैं।

(५) इसके साथ ही श्री अरविन्दका एक विशाल आध्यात्मिक देशभक्तिसे परिपूर्ण अपार साहित्य भी जुड़ा है, जो यत्र-तत्र लेखों आदिमें फैला है। उनकी देशभक्तिके अपार उद्गार भारतके पर्वतों, सरिताओं और सस्य-श्यामल मैदानोंकी भौतिक गरिमापर ही न्यौछावर नहीं किये गये हैं। वे भारतको एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति, एक माँ, मानते थे जो सारे विश्वका केन्द्र है। भारतकी मुक्ति तो सारे विश्वकी सच्ची स्वतन्त्रता और शान्तिका साम्राज्य देनेके लिए एक द्वारोन्मीलन थी। इसके लिए आवश्यक तैयारी करनेके बाद श्री अरविन्द आजादीके संग्रामसे एक आन्तरिक महासंग्राममें उतर पड़े, जिससे संसारमें एक ऐसी महाशक्तिको उतारा जा सके, जिसकी प्रतीक्षामें सारा विश्व व्याकुल है। यह महत्-कार्य किसीके भी बल-बूतेकी बात न थी। भारतीय संस्कृतिपर उनके विचार पढ़कर मुझे तो पहलीबार पता चला था कि भारत क्या है। उनकी पुस्तक Foundation of

Indian Cultute ('भारतीय संस्कृतिके आधार') भारतीय नवयुवकोंको जीवनकी एक नयी दिशा देनेमें अकेले ही समर्थ है। इस विषयमें श्री अरविन्दकी रचनाएँ स्वयंमें एक पाँचवा सागर है।

(६) श्री अरविन्दको अधिकतर लोग या तो एक महान् देशभक्तके रूपमें या फिर एक दार्शनिकके रूपमें ही जानते-मानते हैं। उन्हें अतिमानव-चेतनाका अवतरण करानेवाला और उसके फलस्वरूप एक नये जगत्का स्रष्टा भी मानने लगे हैं, पर वे उनकी साहित्यिक प्रतिमासे बहुधा अनभिज्ञ हैं। वे भूल जाते हैं कि एक नव-स्रष्टा कवि अवश्य होता है। इस सृष्टिका भी रचयिता एक कवि है : **कविरेव प्रजापतिः** । फिर श्री अरविन्द तो बचपनसे ही कविता लिखते और प्रथम पुरस्कार प्राप्त करते थे। सैकड़ोंकी संख्यामें उनकी कविताएँ इधर-उधर फैली हुई हैं और एक-एक कविता चेतनाका अपना संसार ही है। यदि हम यह मानें कि कवितामें वह शक्ति है, जिससे वह भावोंकी एक नयी सृष्टि करनेमें समर्थ हो सकती है और उसमें शब्द और अर्थका सम्मिलन अपनी उच्चतम अवस्थामें पहुँचकर सत्यका मन्त्र बन सकता है, तो श्री अरविन्दकी कविता हमें सर्वदा ही इस उद्देश्यकी पूर्ति करती हुई दिखायी देती है।

उनकी स्फुट-कविताओंके अतिरिक्त कितनी ही लम्बी कविताएँ और खण्डकाव्य हैं जो अपनी शैली और भाव-गाम्भीर्यमें अद्वितीय हैं। कविताओंके अतिरिक्त उनके पाँच नाटक भी हैं जो किसी-न-किसी प्रकारके सत्य-दर्शनके आधारपर अत्यन्त आकर्षक शैलीमें लिखे गये हैं। फिर साहित्य, समालोचना और प्रश्नोत्तरोंकी कोई गिनती ही नहीं। श्री अरविन्दके लेख, भाषण, अनुवाद आदिकी एक बड़ी शृंखला है। साहित्यके इस नये निर्माणको एक दिशा प्रदान करते हुए The Future Poetry ('भाव-कविता')के नामसे काव्यपर एक नया शास्त्र ही उन्होंने रच डाला जो काव्यशास्त्रके जगत्में एक नयी क्रान्ति ले आया है। इन सबको सरलतासे हम एक छठा सागर कह सकते हैं।

(७) उसके बाद आता है सातवाँ सागर, उनका सबसे महान् ग्रन्थ 'सावित्री'-महाकाव्य, जो उनके योगका चरम-परम सार है, उनके सब कार्योंकी, सब कृतियोंकी अन्तरलय है, जहाँ उनका व्याख्याकार मौन है, चिन्तक ठगा-सा रह गया है, दर्शन संगीत बन चुका है। यहाँ तो जीवंत प्रतीकोंकी एक रहस्यभरी परम्परा है—जिसमें शोभाओं और छवियोंके आकाश-पर-आकाश खुलते चले जाते हैं, सौन्दर्यके पर्वतों-पर-पर्वत उभरते चले जाते हैं, आनन्दके मत्त निर्झर और सरिताएँ झर-झर, हर-हर करती उमड़ती चली जाती हैं। कहीं अ-नापी गहराइयाँ खुलने लगती हैं, या तो फिर बिम्बों, रूपकों और उपमाओंकी झड़ी लग जाती है जिनकी कौंधनमें मनुष्यकी दृष्टि चौंधिया जाती है। आइये, एक रूपकका रस लीजिये :

यथा गुह्य ओ क्रियाशील नर्तनमें
एक देववाली विशुद्ध आनँदसे
प्रेरित, शासित बनी सत्यके द्योतक
तोरणके नीचे इक भविष्यदर्शी
देवगुफामें माती थिरक रही हो

जैसे इक नीरवताका अन्तर जो
आनन्दके करोंसे घरा गया हो
औ इक श्रीसमृद्ध रचनात्मक धड़कन
आकर जिसमें बरबस निवस गयी हो
काया कथा, कि उषा की एक कथा जो
प्रच्छन्न दिव्यताका इक गोखा हो,
या कि परालोकके खोलनेवाला
एक स्वर्ण-मन्दिरका रत्नद्वार हो।

जिस अवतरित शक्तिका शब्दोंमें वर्णन करना असम्भव है, उसे भी अभिव्यक्ति मिल गयी है। 'सावित्री' भविष्यकी जननी है—उस स्वर्ण-भविष्यकी, जिसका दर्शन हमें श्री अरविन्दने कराया है।

> श्री माताजी कहती हैं : 'श्री अरविन्द जगत्को यह बताने आये थे कि भविष्य कितना सुन्दर है और उसे हमें चरितार्थ ही करना है। वे केवल एक आशा देने नहीं आये थे, अपितु निश्चयपूर्वक यह बताने आये थे कि जगत् वस्तुतः किस वैभवकी ओर अग्रसर हो रहा है। जगत् कोई अशुभ दुर्घटना नहीं है, यह तो एक आश्चर्य है जो अपनेको अभिव्यक्त करने जा रहा है। जगत्को आवश्यकता है, अपने सुन्दर भविष्यके लिए एक निश्चयी भावकी, जिसे अरविन्द दे गये हैं।'

अब इस भविष्यके निर्माणकी सारी जिम्मेदारी हमारे कन्धोंपर है। हमें अब कलपर नहीं छोड़ना है, अपितु आज और अभीसे इस दिशापर दृढ़तासे चल देना है। उनकी चेतना बराबर हमारे साथ है और दिशाके बारेमें सब कुछ उनके दिव्य ग्रन्थोंमें अङ्कित है। बस, हमें प्रत्येक जीवन-क्षेत्रमें जो जहाँ है, वहींसे अपने पथको पहचानकर चल देना है।

●

भगवद्दर्शन

जो श्रीकृष्णको नहीं पहचानता, मनुष्यमें भगवान्‌को नहीं पहचानता वह भगवान्‌को पूरी तरह नहीं जानता; जो मात्र श्रीकृष्णको जानता है वह कृष्णको भी नहीं जानता। किन्तु इसके विपरीत यह सत्य भी सर्वथा सत्य है कि यदि तू सम्पूर्ण भगवान्‌को एक छोटेसे आभाहीन, गन्धहीन रूपहीन फूलमें देख सके तो तूने उस परमतत्त्वको ग्रहण कर लिया है।

—श्री अरविन्द

भारतीय-स्तवः

श्री कपाली शास्त्री

★

सृष्टिः सर्गपतेरपारमहिमव्यापारपात्रायतां
भूमिर्विश्वशरीरिणो भगवतः पादारविन्दायते।
तत्र श्रीपतिजन्मभिर्धृतमहस्सङ्घैर्वराङ्गायिता
माहाभाग्यभरा चिरं विजयतां विश्वम्भरा भारती ॥ १ ॥

सृष्टिकर्ताने सृष्टि इसलिए रची हैं कि वह उनके अगाध-महिमामय व्यापारका पात्र बने। यह पृथ्वी उन विश्व-शरीरी भगवान्‌का पादपद्म है। इस पृथ्वीका उत्तमांग (शीर्षस्थान) यह भारतभूमि है, क्योंकि यहीं भगवान् श्रीपतिके ज्योति-धारक अनेक जन्म हुए हैं। अपने अन्दर बड़े-बड़े अंश धारण करनेवाली ऐसी भारत-विश्वम्भरा चिरविजयिनी हो!

अद्य श्रीदिनमद्य भारतकुल-स्वातन्त्र्य-दीक्षागुरोः
स्वाराज्यार्थदृशोऽरविन्दभगवत्सूरेर्जयन्तीदिनम् ।
अद्यास्तङ्गतमङ्गभङ्ग-बहुलक्लेशं च पूर्वं युगं
नूत्नं सङ्गतमद्य मङ्गलयुगं जेजीयतां भूतले ॥ २ ॥

आज मंगल-प्रभात है; विज्ञवर भगवान् श्री अरविन्दकी जयंतीका दिन है। आपने ही स्वराज्यका सच्चा अर्थ जाना था और ध्रुवतारा बन भारतकी प्रजाको स्वतंत्रताकी दीक्षा दी थी। आज अंग-भंग और नाना दुःख-क्लेशका पुराना युग बीत गया है और एक नया मंगलमय युग आरम्भ हो गया है। पृथ्वीपर इस युगकी जय-जयकार हो।

निद्राणा किमु भारतक्षितिरियं किं मूर्छिता मोहतः
किं नैरात्म्यवशंवदैररिजनैराक्रान्तसत्त्वा पुनः।
भिन्ना सङ्घसहस्त्रिभिः किमु जनैश्छिन्नाऽन्तरद्वेषिभिः
क्षोणीमण्डल-सार-दिव्यमहिमज्वालैव शान्ता नु किम् ॥ ३ ॥

'क्या भारतभूमि सो रही है; क्या मोहसे अभिभूत हो गयी है; क्या उसका सारा सत्त्व ही आत्मामें अविश्वास रखनेवाले शत्रुओंके द्वारा आक्रांत हो गया है। क्या स्वयं हजारों संघोंमें विभक्त, पारस्परिक द्वेषसे भरे लोगों द्वारा वह छिन्न-भिन्न कर दी गयी है; क्या पृथ्वी-मण्डलका सारतत्त्व यह दिव्य महिमामयी ज्वाला शांत हो गयी है?

यातः कुत्र पराक्रमस्तव पुरा रक्षांसि येनाऽधुनोः
किं यातं बलमम्ब येन भगवद्धर्माः पुरा दर्शिताः।
इत्थं व्याकुलचेतनैः सुकृतिभिः पुत्रैश्चिराय स्थिते
मातर्भारति हन्त ते समुदयः सोऽयं समासाद्यते ॥ ४ ॥

'माता भारती ! भला तेरा वह पुराना पराक्रम कहाँ चला गया जिससे तूने पुराकालमें राक्षसोंको मार भगाया था ? माँ ! क्या तेरा वह बल चला गया जिससे तूने प्राचीन कालमें भगवद्धर्मको प्रकाशित किया था ?'—इस प्रकार जब कि दीर्घकालसे तेरे कुछ सुकृती सन्तानोंका चित्त व्यथित हो रहा था तब हंत ! हे माँ भारती ! तेरा यह अभ्युदय आ उपस्थित हुआ है।

शान्तैवाऽसि शमप्रधानजनतामाताऽसि तत् ते गुणः
कष्टास्याम्बुरुहैव भासि बहुशः क्लेशैरभिप्लाविता।
अन्नाभावजनातुरेऽपि समये काये च कार्श्यं गते
मातस्त्वां न जहाति काचन कला सा ते हि सत्याकृतिः ॥ ५ ॥

माँ ! तू शांतिमय है; शांतिप्रधान जनताकी जननी है; यही तेरा गुण है। जब तू बहुत क्लेशसे पीड़ित हो जाती है तब भी तेरा मुखकमल कमनीय ही बना रहता है। जब अन्नाभावसे मनुष्य आतुर हो जाते हैं और शरीर कृश हो जाता है तब भी हे माँ ! एक विशिष्ट कला विद्यमान रहती है और वही तेरा सच्चा रूप है।

देवात्मा हिमवान् द्युलोकतटिनी गङ्गा च यत्राऽश्रया-
न्माहात्म्यं बिभृतो यशश्च विपुलं धर्म्यं परं पावनम्।
तां त्वां दैवतवृन्दसेवित-महामूर्तिं प्रभावोज्ज्वलां
को विद्वान् गिरिगह्वरावनिधुनीस्रोतोमयीं मन्यताम् ॥ ६ ॥

जहाँ आश्रय प्राप्त करनेके कारण देवात्मा हिमालय और द्युलोकतटिनी गंगा विपुल, धर्ममय एवं परम पावन यश तथा माहात्म्यको प्राप्त हुई हैं, ऐसी देववृन्दसेविता महामूर्ति एवं प्रभावोज्ज्वला तुझे भला कौन विद्वान् केवल गिरिगह्वर, भूमि तथा नदी-नालेके रूपमें देख सकता है।

केषाञ्चिन्मुनिवृन्दपावनजनुर्भूमिः परेषां पुनः
देवानामवतारभूरथ महातीर्थालयक्षेत्रभूः।
एकेषां चिरकालचित्रचरिता दीर्घायुरेषा मता
मातास्माकमखण्डचिज्ज्वलनभूर्नित्यात्मधर्मार्थभूः ॥ ७ ॥

कुछ लोगोंके लिए यह मुनिवृन्दकी पावन जन्मभूमि है; कुछ लोगोंके लिए यह देवताओंकी अवतारभूमि है; कुछ लोगोंके लिए महान् तीर्थों तथा क्षेत्रोंकी भूमि है; कुछ लोगोंके लिए चिरकाल अद्भुत चरित्र दिखानेवाली यह दीर्घजीवी है। किन्तु हमारे लिए यह माता अखण्ड चिज्ज्योतिकी वेदी तथा नित्य आत्मधर्मकी भूमि है।

श्री अरविन्दका पुण्य-स्मरण

श्री रविराज

★

श्री अरविन्दने सन् १९१० से १९५० तक एक अद्भुत कार्य पाण्डिचेरीमें रहकर किया, जो अब भी चल रहा है और आनेवाले युगमें भी निरन्तर चलता रहेगा। उनके द्वारा लिखी पुस्तकें 'दिव्य-जीवन' 'योग-समन्वय' 'वेद-रहस्य', 'भारतीय संस्कृतिके आधार', 'सावित्री' आदि उल्लेखनीय है। एक ठोस कार्य था जिसका उद्देश्य मानवस्तरको ऊंचा उठाना और उसे अति-मानसकी दिव्य चेतनातक ही ले जाना न था। किन्तु उसे साक्षात् स्वर्गकी अनुभूति इसी जगत् और इसी जीवनमें कराना भी था।

प्रभुके विषयमें उनका कहना था कि वह अनुभव किया जा सकता है, यदि मनुष्य स्वयं समर्पण और पूरे मनसे भक्तिका रास्ता अपनाये। प्रभुकी ऐसी थोड़े शब्दोंमें व्याख्या मेरेलिए तो यह समझिये कि 'गागर-सागर'के समान थी जिसने मेरा जीवन बदल डाला। बहुत कुछ इस विषयमें पढ़ा और सुना था, पर श्री अरविन्दकी ऐसी सुन्दर भाषा जिसका एक-एक शब्द ध्यान देने योग्य है। यदि मनुष्य केवल मात्र उनके इसी विचारको ही समझनेका प्रयास करे तो वह निश्चय ही जान जायगा कि भगवान् क्या हैं और उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। यही था उनके 'दिव्य-जीवन' लिखनेका उद्देश्य कि मनुष्य उस सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक ईश्वरको अपने जीवनमें उतारे।

श्लाघन्तां तव दिव्यगुप्तचरितं ते गुप्तविद्याविदो
भिक्षन्तां भृतिमुत्तमां तव कृपां ते कर्मभिः कर्मठाः।
वन्दन्तां कृतिनो यशस्तव वयं माहात्म्यजीवातवो
विद्मो भारतमङ्गलं ध्रुवमिदं मातर्जगन्मङ्गलम् ॥ ८ ॥

हे माँ! गुप्तविद्याविशारद लोग तेरे दिव्य गुप्त चरित्रका बखान करें। कर्मी पुरुष अपने कर्मके उत्तम वेतनके रूपमें तेरी कृपाकी याचना करें। विज्ञ पुरुष तेरा यशोगान करें। पर तेरे माहात्म्यसे जीवन प्राप्त करनेवाले हम लोग यह जानते हैं कि वास्तवमें भारतका ही मंगल जगत्का मंगल है।

●

ऋषियों और मुनियोंने घोर तप और त्यागसे अपने जीवनमें जिस दिव्य आनन्दका अनुभव किया, वह आनन्द, श्री अरविन्द मनुष्य मात्रके लिए साधारण ढंगसे लाना चाहते थे। उनका योग-दर्शन व्यक्तिगत मुक्तिका ही नहीं, सारी मनुष्य-जातिके आध्यात्मिक परिवर्तनका मार्ग-दर्शन है, एक भक्तने अपने गहरे अध्ययनके पश्चात् अपना अनुभव बताते हुए कहा था : 'श्री अरविन्दने योगका मार्ग, जो बहुत कठिन समझा जाता था, हमारे द्वारतक ला दिया।' यह बात बिलकुल सत्य है कि जिस योगकी खोजमें हमारे पूर्वजोंने कितने कष्ट सहे, उनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता, श्री अरविन्दने अपने जीवनमें साक्षात् अनुभवके पश्चात् दूसरोंके लिए सरल कर दिखाया।

श्री अरविन्दने व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकासके लिए तीन प्रकारका रूपान्तर (Triple Traosfoamation) बताया है। सबसे पहले शारीरिक और मानसिक (Psychicieation) कहा, दूसरा आध्यात्मिक रूपान्तर (Spirital Transformation) और तीसरा अतिमानसिक रूपान्तर (Snpramental Transfalmation) सबसे पहले अपने आपको पहचानना जिसके लिए पतजंलि मुनिने 'अष्टांग योग-दर्शन'में ध्यान, धारणा और समाधिपर बल दिया है। श्री अरविन्दने भी प्रार्थना और ध्यान (Prayerand Meditation) को अधिक महत्त्व दिया।

ध्यानमें साधक ऐसी अवस्थातक पहुँच जाता है कि उसका बाह्य जगत्से सम्पर्क कुछ समयके लिए बिलकुल नहीं रहता। यदि उसे ऐसा अनुभव नहीं होता तो समझना चाहिए कि ध्यानतक पहुंचनेमें अभी उसे सफलता नहीं मिली, जिसके लिए प्रयत्न निरन्तर करता रहे। समय आनेपर वह उस दैवी आनन्दका अनुभव करने लगेगा जिसकी शब्दोंमें व्याख्या नहीं की जा सकती। यह एक स्वयं अपने अनुभवका विषय बन जाता है और इसके विषयमें अधिक पूछना भी गूँगेसे स्वाद पूछनेवाली बात लगती है।

जिज्ञासुको चाहिए कि इस आनन्दको प्राप्त करनेका प्रयास करता रहे और थोड़ी-सी अनुभूतिके पश्चात् यह न समझ बैठे कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। उस दैवी आनन्दको, जो कि सच्चिदानन्द (Treuth Supreme, Consciowsness Supreme, Bliss Supreme) तक ले जानेवाला है, स्थायी रूपसे जीवनमें उतारनेके लक्ष्यको न भूले। जीवनमें ऐसा समय आ जायगा कि वह स्वयं ही अनुभव करने लगेगा जिसे सन्तोंने भिन्न प्रकारसे व्यक्त किया है।

'नाम खुमारी नानका-चढ़ी रहे दिन-रात।'
'पीछे-पीछे हरि फिरे—कहत कबीर-कबीर।'

●

श्रीकृष्णमें निवास

श्रीकृष्णमें निवास करनेपर शत्रुता भी प्यारका खेल हो जाती है, दो भाइयोंकी कुश्ती बन जाती है।

—श्री अरविन्द

योगी अरविन्दका साधना-पाथेय

श्री श्रीकृष्णदत्त भट्ट

★

मये रंगीँ था सादा पानी भी,
हाय क्या चीज़ थी जवानी भी !

×

जवानीके जोशमें किसे होश रहता है ? अभी मसें भीग ही रही थीं, हाईस्कूलकी परीक्षा सिरपर थी। तभी आ पड़ी सन् १९३० की २६ जनवरी।

कांग्रेसका कार्यक्रम पढ़ लिया अखबारोंमें और उस दिन प्रातःकाल अपने छात्रावासमें राष्ट्रिय झण्डा फहरा ही तो दिया !

फतेहगढ़ जिलेकी छोटी-सी रियासत तिर्वा। रानी साहिबाकी स्मृतिमें खुले आदित्य-कुमारी क्षत्रिय हाईस्कूलका कोई विद्यार्थी ऐसी गुस्ताखी करे ! ८ मील दूर थानेपर खबर पहुँची। थानेदार आकर देख गया। किलेदारको खबर हुई, राजा साहबको खबर हुई। हेडमास्टर साहबको खबर हुई।

× ×

ब्रिटिश अमलदारीका सारा चक्र कितनी तीव्रतासे घूमता था उन दिनों ! दूसरे दिन हेडमास्टर साहबके दफ्तरमें मेरी पेशी !

'यह झण्डा तुमने फहराया ?'

'जी !'

'जानते हो अपने स्कूलको सरकारी मदद मिलती है ? ऐसी बातोंसे सरकारकी निगाह टेढ़ी होती है। खैर। जाओ। आयन्दा ख्याल रखना...।'

परीक्षाकी तैयारीकी छुट्टी थी उन दिनों। हेडमास्टर साहबने सम्हाल लिया। वर्ना सरकारी तन्त्र तो मुझे उस वर्ष परीक्षासे वंचित कराना ही चाहता था।

पर मेरी तो तैयारी थी ही।

हाईस्कूलसे निकला तो कानपुर डी० ए० वी० कालेज।

तबतक गांधीका आदेश जारी हो गया था—विद्यार्थी स्कूल-कालेज छोड़ दें, वकील वकालत।

मैं भी था मैदानमें कालेज छोड़कर। रात-दिन आजादीका नशा। क्रान्तिका सपना। क्रान्ति लानी है, रास्ता चाहे जो हो। बम बनानेका नुस्खा महीनों पड़ा रहा मेरी जेबमें।

× × × ×

सन् १९३३ में जेलसे छूटा तो थोड़ा गम्भीर हो चुका था। चाहता था योगी अरविन्दके आश्रममें जाना।

पर तेरे मन कछु और है कर्ताके कछु और !

क्रान्तिकारो, देशभक्त—और योगी।

श्री अरविन्दके ये तीनों रूप मुझे खींच रहे थे, पर उस समय जाना नहीं हो सका, सो नहीं ही हो सका।

१९५७ में—कोई २५ साल बाद पाण्डिचेरी पहुँच पाया।

और तब वह महान् विभूति अनन्तमें विलीन हो चुकी थी, जिसके चरणोंमें बैठकर योग-साधना करनेकी साध मैंने बचपनसे संजोयी थी।

× × ×

दोलायमान सागरके तटपर देखी मैंने योगी अरविन्दकी समाधि। कमलके मनोहर पुष्पोंसे तथा असंख्य अन्य रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पोंसे सजी-सजायी उस समाधिको देखकर हृदय गद्गद हो उठा।

उसके बाद दर्शन किये योगी अरविन्दके साधना-स्थलके और फिर श्री माँके !

अरविन्द-विश्वविद्यालयके प्राध्यापक डॉक्टर इन्द्रसेनसे उस दिन सायंकाल घण्टों चर्चा चलती रही। मुख्यतः श्री अरविन्दकी और उनकी साधना-पद्धति की। सन्त विनोबा जब अरविन्द-आश्रममें पधारे थे, उस विषयकी भी चर्चा चली।

× × ×

लोग कहते हैं और सही कहते हैं कि श्री अरविन्दको, उनके दर्शनको, उनके वेदान्तको समझना कठिन ही नहीं, अत्यन्त कठिन है। उनकी अतिमानसकी अवधारणा, अवतरणकी अवधारणा सामान्य लोगोंकी समझसे ऊपरकी चीज है।

विनोबासे हालमें किसीने ऐसा ही प्रश्न किया तो वे बोले : 'दर्जा ४ के विद्यार्थीको एम० ए० में पढ़ायी जानेवाली पुस्तक दे दी जाय, तो वह बेचारा क्या समझेगा ? उसे तो दर्जा ४ की ही किताब चाहिए।'

मैं भी अपनेको दर्जा चारका विद्यार्थी मानता हूँ। कोई ४०–४५ सालसे मैं पढ़ता आ रहा हूँ अरविन्दको। बँगलामें, अँग्रेजीमें, हिन्दीमें। विशेषतः योगकी उनकी सभी पुस्तकें प्रायः देख गया हूँ। अवश्य ही वे स्थान-स्थानपर दुरूह हैं, पर हमें तो उनमेंसे मतलबकी बात खोज लेनी है।

और सिर्फ खोजनेसे तो काम चलेगा नहीं। काम तो चलेगा उन बातोंपर अमल करनेसे।

आइये, हम देखें कि साधकोंके लिए श्री अरविन्दने कैसा पाथेय जुटाया है !

× × ×

जीवनका लक्ष्य

श्री अरविन्द कहते हैं : "जीवनका सच्चा उद्देश्य है—संसारमें दिव्य आनन्दका उपभोग। आत्मोपलब्धि और ईश्वरोपलब्धि मनुष्यका महान् कार्य है। सत्य, शुचिता, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा, क्षमा, करुणा आदि मानव जीवनके वास्तविक उपादान हैं। अन्तरस्थ भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करना ही मोक्ष है। यह अन्तरस्थ भगवान् ही वैष्णवका दिव्य प्रेममय ईश्वर है और यही शाक्तका दिव्यशक्ति-सम्पन्न ईश्वर है। सत्, चित् और आनन्दकी अनुभूति ही सच्चिदानन्दकी अनुभूति है। सच्चिदानन्दके ७ स्वरूप हैं—सत्, चित्, शक्ति, आनन्द, ज्ञान, मन और जीवन।"

जीवनका यह लक्ष्य तो हमने समझ लिया, पर इस लक्ष्यकी सिद्धिका साधन क्या है ?

इसके लिए साधकको अपनी रुचिके अनुसार और योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म इन मार्गोंमेंसे कोई मार्ग चुन लेना चाहिए।

श्री अरविन्द कहते हैं : **ज्ञान** का लक्ष्य है—सर्वोच्च सत्ताकी अनुभूति और विवेक-दृष्टि। **भक्ति**का लक्ष्य है—सच्चिदानन्दमें अपनेको विलीन कर देना। **कर्म**का लक्ष्य है—अपना प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाको अर्पित कर देना। समस्त सत्ताको भगवान्पर एकत्र करना **योग**का स्वरूप है।

ज्ञान

सभी जानते हैं कि **ज्ञानको पंथ कृपाणकी धारा !** देखनेमें भले ही वह सरल प्रतीत हो, पर है वह बड़ी टेढ़ी खीर। सदा-सर्वदा-सर्वोच्च सत्ताकी अनुभूति करते रहना और विवेक-दृष्टि बनाये रखना दाल-भातका कौर नहीं है।

श्री अरविन्द कहते हैं : 'सब आनन्द, सौन्दर्य, शान्ति, प्रेम और सुख-आनन्द ब्रह्ममेंसे ही प्रवाहित होता है। भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, चारों ओर आनन्द ब्रह्मकी ही सत्ता है। ज्ञानका प्राचीनतम सूत्र है—ईश्वर, प्रकाश, स्वतन्त्रता और अमरता। भगवान् ही भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लीला कर रहे हैं—यह है ज्ञान। ज्ञानकी सहायतासे सभी द्वन्द्वोंका नाश हो सकता है। द्वन्द्व होते हैं तीन प्रकारके : (१) शरीर और मनके संयोगके द्वन्द्व हैं—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और सुख दुःख। (२) मन और प्राणके संयोगके द्वन्द्व हैं—जय-पराजय, सफलता-विफलता, शान्ति-अशान्ति। (३) मन और बुद्धिके संयोगके द्वन्द्व हैं—सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, मुक्ति-अमुक्ति। ज्ञानकी उपलब्धिके लिए इन तीनों द्वन्द्वोंसे ऊपर उठना होगा। ज्ञानका चक्षु खुलते ही संसारमें सर्वत्र सच्चिदानन्दके दर्शन होने लगते हैं।

भक्ति

सच्चिदानन्दमें अपनेको विलीन कर देना ही भक्तिका चरम लक्ष्य है। भक्तिका अर्थ है—प्रेम।

श्री अरविन्द कहते हैं। 'भक्तिसे मनुष्यको कण-कणमें, प्रत्येक कर्ममें भगवान्के दर्शन होने लगते हैं। भक्तियोग कहता है कि शरीरको मन्दिर बनाकर सारे जीवनको सेवा-पूजा

बना दो। सार्वभौम प्रेमकी भावना, एकत्वकी खोज एवं अनुभूतिको प्रतिष्ठित करके हम प्रत्येक कार्यको पूजाका रूप दे सकते हैं। मनुष्य एवं प्राणिमात्रमें विराजमान भगवान्‌के प्रति एक अन्तरीय भाव विस्तारित करनेसे दिव्य-प्रेम सफल हो सकेगा। सब योगोंमें प्रेमयोग अत्यन्त उत्कृष्ट है। प्रेमी ईश्वरसे कुछ नहीं चाहता। वह उसमें एकाकार होना चाहता है। विश्वव्यापी प्रेमके द्वारा सारे जीवनको पूजा बनाया जा सकता है। प्रेमीके लिए कहीं कोई भेद नहीं रह जाता।

कर्म

अपना प्रत्येक कर्म प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देना कर्म है। **जो कछु करौं सो पूजा!** यह आत्म-समर्पण किया कि सब झंझटोंसे छुटकारा!

कश्ती खुदा पै छोड़ दी लंगरको तोड़कर!

श्री अरविन्द कहते हैं: 'साधकको चाहिए कि वह भगवान्‌की इच्छाको ग्रहण करे। यह कभी न कहे कि यह मेरा अधिकार है, मेरी माँग है। भगवान् जो कुछ दें, उसे प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करे। वह अपने मन-प्राणकी इच्छाको भगवान्‌पर कभी न लादे।'

आत्म-समर्पण करनेवाला साधक कोई भी कार्य करता है तो यही सोचकर करता है कि मेरा प्रत्येक कार्य प्रभुका ही कार्य है। खेतमें कुदाल चलाता है तो यही सोचता है कि खेतमें जो उपज होगी, वह नारायणकी ही पूजामें लगेगी। फुलवाड़ीमें गुलाब और चम्पा, बेला और चमेली, जूही और तुलसीको सींचता है तो यही सोचता है कि ये सुमन, तुलसीदल भगवत्पूजाके लिए ही हैं। भोजन भी है तो इसलिए कि प्रभुके शरीररूपी मन्दिरको स्वस्थ, स्वच्छ और पवित्र बनाये रखना है, ताकि उससे भगवत्सेवा हो सके।

श्री अरविन्द कहते हैं: 'साधकको चाहिए कि वह अपने मन, प्राण और शरीरको भागवत-शक्तिका यन्त्र बना ले। उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि समर्पण ही कर्मयोगका साधन तथा साध्य है। 'सुख-दुःख सब माँकी इच्छासे हो रहे हैं'—साधक जब यह मानने लगे तब समझना चाहिए कि वह उपासनाका अधिकारी है। पूर्ण-समर्पणका अर्थ है—सत्ताके एक-एक अंगसे अहंकारको काट फेंकना।'

योग

योगकी साधनासे मानव नीचेसे ऊपर चढ़ता है। उसके लिए साधकको अपनेको कसना होगा। आहार-विहार, स्वप्न-जागरण, कर्म-अकर्म सबमें संतुलित होकर आगे बढ़ना होगा।

श्री अरविन्द कहते हैं: 'बुद्धि, मन, चित्त, प्राण और शरीर, ये ५ हैं जीवके आधार। इन सभी आधारोंमें ही शुद्धि, मुक्ति, भुक्ति और सिद्धि लानी होगी। पहले बुद्धि शुद्ध करनी पड़ेगी, फिर मन। मनके बाद चित्तको शुद्ध करना होगा। फिर प्राणकी शुद्धि करनी होगी, फिर शरीरकी शुद्धि करनी होगी। आधार-शुद्धि होते ही मुक्ति मुट्ठीमें आ जाती है।

शुद्धि आयी कि सारे दुःख-द्वन्द्व समाप्त! अरविन्द कहते हैं:

'द्वन्द्व, क्लेश, यंत्रणा तभीतक हैं जबतक अशुद्धि बनी है।

'योगके चार अङ्ग हैं—शुद्धि, भुक्ति, सिद्धि और मुक्ति। योगका उद्देश्य है पृथ्वीपर स्वर्गीय आनन्दकी संस्थापना।'

शुद्धि

मूल प्रश्न है—आधार-शुद्धि। आधारकी अशुद्धियाँ हैं—वासनाएँ कामनाएँ, संस्कार। इन्हें शुद्ध किया कि काम बना। इस समग्र शुद्धिके लिए शयन और भोजन, भ्रमण और वार्ता समीपर नियन्त्रण करना होगा।

श्री अरविन्द कहते हैं: 'निद्रामें परिमितता चाहिए, उदासीनता या आलस्य नहीं: साधकको सीखना होगा कि यह निद्रा लेते हुए वह अधिकाधिक सचेतन कैसे रह सकता है।'

भोजनके सम्बन्धमें श्री अरविन्दने अनासक्तिका मार्ग सुझाया है। वे कहते हैं: 'आहार-कामनापर विजय पानेका मार्ग है अनासक्तिका मार्ग. आहारमें आसक्ति, लालसा और उत्सुकता यौगिक भावनाके विपरीत है। साधकका आहार नियत परिमाणमें हो वह न तो कम खाये न अधिक। आहारके लिए मनमें यह भाव रखो कि यह शरीर-रक्षाके लिए माताका दिया हुआ एक साधन है। बिना आग्रह या चाहके भोजनमें जो मिले, उसे प्रेमसे भगवान्‌को अर्पण करते हुए ग्रहण करो। दीर्घकालतक निराहार रहना भी उचित नहीं है। शरीरको स्वस्थ रखो, पर उसमें आसक्ति न रखो। शरीरकी अवहेलना करना और उसे क्षीण होने देना भूल है। रोग भौतिक प्रकृतिका विकृत रूप है। उसे निकाल बाहर करो।'

अनासक्तिकी यह साधना मानसिक विकारोंकी दिशामें भी करनी है। श्री अरविन्द कहते हैं: 'काम-वेगका प्राण और शरीरपर जो आक्रमण होता है, उससे सर्वथा अलग रहो। काम-वेगका त्याग करो, पर उससे संघर्ष करके नहीं, अपनेको उससे अनासक्त रखकर। साधक जबतक काम-वेगको नहीं जीतेगा तबतक उसके शरीरमें भागवत आनन्द नहीं आयेगा।'

भागवत-शक्ति

योगके साधकको भागवत-शक्ति ग्रहण करनी है। उनके लिए श्री अरविन्द कहते हैं: 'भागवत-शक्ति ग्रहण करनेके लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं—

१. अचंचलता, समता; २. अखण्ड श्रद्धा और ३. ग्रहणशीलता।

'अचंचलता है—किसी भी घटनासे विचलित न होना। शक्तियोंका खेल देखते रहो। प्रशान्त बने रहो। समताका अर्थ है—दुःख और कष्टमें समता बनाये रखना।

'श्रद्धा है—अपने आपको भागवत-ज्योतिका सच्चा यन्त्र बना लेना। साधकको ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए कि मेरे लिए जो सर्वोत्तम है वही होगा। ईश्वरमें मेरी श्रद्धा है तो मैं ईश्वरानुभूतितक पहुँच सकता हूँ। हर सन्देह और उदासीके समय कहो—'मैं भगवान्‌का हूँ। मैं कभी असफल नहीं हो सकता। मैं भगवान्‌का चुना हुआ अमृत-पुत्र हूँ। गिरूँगा तो फिर उठकर खड़ा होऊँगा।' श्रद्धा, सच्ची अभीप्सा और अविचल अभ्याससे दिव्य आनन्दका संचार होगा।'

'ग्रहणशीलताका अर्थ है—भागवत-शक्तिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य। साधनाके लिए बलवान् मन, शरीर और जीवनी शक्ति चाहिए। विफलतासे हताश नहीं होना चाहिए। विफलताका कारण खोजो और श्रद्धापूर्वक विजयकी ओर बढ़ो। मातासे प्रार्थना करो कि तुम्हारा मन अचंचल हो, तुममें शुद्धि, स्थिरता और शान्तिका निवास हो। माताकी शक्तिका चुपचाप भरोसा करनेकी आदत डालो। साधक यह अनुभव करे कि भगवान्की उपस्थिति, शक्ति, ज्योति और आनन्दने उसे अधिकृत कर लिया है। वह श्रद्धा, प्रफुल्लता और अन्तिम विजयमें विश्वास रखे।'

यह भागवत-शक्ति हमारे ऊपर-नीचे, इधर-उधर सर्वत्र बिखरी पड़ी है। पूर्ण विश्वास और श्रद्धासे हम इसे ग्रहण करनेके लिए आतुर हों, अपने आपको उसके लिए उपयुक्त पात्र बनायें—चाहे ज्ञानसे, चाहे भक्तिसे, चाहे कर्मसे चाहे भोगसे। सभी मार्ग पहुँचायेंगे उस माँकी ही पवित्र-पावन गोदमें।

रस्ते जुदे जुदे हैं मकसूद एक है।

यही है योगी अरविन्दका साधना-पाथेय! धन्य हो उठेगा हमारा जीवन इस पथपर चलनेसे। कोई चलनेवाला हो भी तो! फिर तो आनन्द ही आनन्द है। यत्र तत्र सर्वत्र सत्-चित् आनन्द!

लुत्फे मय तुमसे क्या कहूँ जाहिद,
हाय कम्बख्त तूने पी ही नहीं!

•

अभीप्सा और आन्तर तपस्याकी अग्नि

यह अग्नि अभीप्सा और आन्तर तपस्याकी दिव्य अग्नि है। जब यह अग्नि मानवी अज्ञानके अन्धकारमें अपनी क्रमवर्धमान शक्ति और विपुलताके साथ बार-बार अवतरण करती है तब आरम्भमें ऐसा प्रतीत होता है मानों यह अन्धकार इसे निगलता जाता है और अपने अन्दर विलीन करता जाता है; परन्तु जब यह अवतरण अधिकाधिक होता जाता है तब यह अन्धकारको ज्योतिमें, मानव-मनके अज्ञान और अचेतनाको आध्यात्मिक चेतनामें परिणत कर देता है।

—श्री अरविन्द

तीन पागलपन !

संकलनकर्ता : श्री जयदयाल डालमिया

[श्री अरविन्दने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती मृणालिनी देवीके नाम ३० अगस्त १९०५ को एक निजी पत्र लिखा, जो पुलिसकी कृपासे सार्वजनिक सम्पत्ति बन गया है । इसमें उन्होंने अपने तीन पागलपनका वर्णन किया है ।]

पहला पागलपन है—मेरा यह दृढ विश्वास कि भगवान्‌ने मुझे जो गुण, जो धन दिया है, वह सब भगवान्‌का है । जो कुछ परिवारके भरण-पोषणमें लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसीको अपने लिए खर्च करनेका मुझे अधिकार है । उसके बाद जो कुछ बाकी रह जाता है, उसे भगवान्‌को लौटा देना उचित है । यदि मैं सब अपने लिए, सुखके लिए, विलासके लिए खर्च करूँ तो मैं 'चोर' कहलाऊँगा । हिन्दू-शास्त्र कहते हैं : 'जो भगवान्‌का धन लेकर भगवान्‌को नहीं लौटाता, वह चोर है ।' आजतक मैं भगवान्‌को दो आना देकर चौदह आना अपने सुखमें लगा हिसाब चुकता कर सांसारिक सुखमें मग्न था । मेरा जीवनका अर्धांश वृथा ही गया । पशु भी अपना और अपने परिवारका उदर-भरण कर कृतार्थ होता है ।

'मैं इतने दिनोंतक पशुवृत्ति और चौर्यवृत्ति करता जा रहा था—यह समझ गया हूँ । यह जानकर मुझे बड़ा अनुताप और अपने ऊपर घृणा हो रही है । अब नहीं, वह पाप जन्मभरके लिए मैंने छोड़ दिया है। भगवान्‌को देनेका अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है धर्म-कार्यमें व्यय करना। जो रुपया सरोजिनी या उषाको दिया है, उसके लिए मुझे कोई अनुताप नहीं, परोपकार करना धर्म है । आश्रितकी रक्षा करना महाधर्म है, किन्तु केवल भाई-बहनको देनेसे ही हिसाब नहीं चुकता होता है । इस दुर्दिनमें समस्त देश मेरे द्वारपर आश्रित है । मेरे तीस कोटि भाई-बहन देशमें हैं, उनमेंसे बहुतेरे अनाहारसे मर रहे हैं, अधिकांश कष्ट और दुःखसे जर्जरित होकर जिस किसी प्रकार बचे हुए हैं, उनका हित करना होगा ।

'क्या कहती हो—इस विषयमें मेरी सहधर्मिणी बनोगी ?' केवल सामान्य लोगोंकी तरह खा-पहनकर, ठीक-ठीक जिस चीजकी जरूरत है उसे ही खरीदकर और सब भगवान्‌को दे दूँगा—यही मेरी इच्छा है । अगर तुम सहमत हो, त्याग स्वीकार करो तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है । तुम कहती हो मेरी कोई उन्नति नहीं हुई । यह उन्नतिका एक पथ दिखा दिया, क्या इस पथपर चलोगी ?

× × × ×

दूसरा पागलपन हालमें ही सिरपर सवार हुआ है, वह यह कि चाहे जैसे भी हो, भगवान्‌का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा। आजकलका धर्म है, बात-बातमें मुँहसे भगवान्‌का नाम लेना, सबके सामने प्रार्थना करना, लोगोंको दिखाना कि मैं कितना धार्मिक हूँ। मैं इसे नहीं चाहता। ईश्वर यदि हैं तो उनके अस्तित्वका अनुभव करनेका, उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करनेका कोई न कोई पथ होगा ही। वह पथ चाहे कितना ही दुर्गम क्यों न हो, उससे जानेका मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। हिन्दू-धर्मका कहना है कि अपने शरीरके भीतर ही वह पथ है। जानेके नियम भी दिखा दिये हैं, उन सबका पालन मैंने आरम्भ कर दिया है। एक मासके अन्दर अनुभव कर सका हूँ कि हिन्दू-धर्मको बात झूठी नहीं है। जिन-जिन चिह्नोंकी बात कही गयी है, उन सबकी उपलब्धि मैं कर रहा हूँ। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी उस पथपर ले चलूँ। पर एकदम साथ-साथ नहीं चल सकोगी, क्योंकि तुम्हें उतना ज्ञान नहीं है। किन्तु मेरे पीछे-पीछे आनेमें कोई बाधा नहीं। उस पथपर चलनेसे सिद्धि सभीको हो सकती है। प्रवेश करना अपनी इच्छापर निर्भर करता है, कोई तुम्हें पकड़कर नहीं ले जा सकता। यदि तुम्हें यह अभिमत हो तो इस सम्बन्धमें और भी लिखूँगा।

× × × ×

'तीसरा पागलपन यह कि अन्य लोग स्वदेशको एक जड़ पदार्थ कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत नदीभर समझते हैं। पर मैं स्वदेशको माँ मानता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। माँकी छातीपर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करनेके लिए उद्यत हो तो भला लड़का क्या करता है? निश्चिन्त होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्रके साथ आमोद-प्रमोद करनेके लिए बैठ जाता है या माँका उद्धार करनेके लिए दौड़ पड़ता है? मैं जानता हूँ कि इस पतित जातिका उद्धार करनेका बल मेरे अन्दर है। शारीरिक बल नहीं। तलवार या बन्दूक लेकर मैं युद्ध करने नहीं जा रहा हूँ, वरन् ज्ञानका बल है। **क्षात्र-तेज एकमात्र तेज नहीं, ब्रह्मतेज भी एक तेज है और वह तेज ज्ञानपर अधिष्ठित रहता है।** यह भाव नया नहीं, आजकलका नहीं है। इसी भावको लेकर मैंने जन्म ग्रहण किया है। यह भाव मेरी नस-नसमें भरा है। भगवान्‌ने इसी महाव्रतको पूरा करनेके लिए मुझे पृथ्वीपर भेजा है। चौदह वर्षकी उम्रमें इसका बीज अंकुरित होने लगा था, अठारह वर्षकी उम्रमें इसकी प्रतिष्ठा दृढ़ और अचल हो गयी थी।

तुमने मौसी (चौथी मौसी) की बात सुनकर यह सोचा था कि न मालूम कहाँका बदजात मेरे सरल, भलेमानुस स्वामीको कुपथमें खींचे ले जा रहा है। किन्तु तुम्हारा भलामानस स्वामी ही उस आदमीको तथा और सैकड़ों आदमियोंको उस पथपर—फिर वह कुपथ हो या सुपथ—खींच ले आया है तथा और भी हजारों आदमियोंको खींच ले आयेगा। कार्यसिद्धि मेरे रहते ही होगी, यह मैं नहीं कहता, पर होगी अवश्य !

—'अग्निशिखा' मासिक पत्रिकाके नवम्बर १९७१ के अङ्क से।

श्री दुर्गा-स्तोत्र : भाव-भीना गद्यकाव्य

श्री अरविन्द

★

मातः दुर्गे ! सिंहवाहिनि, सर्वशक्तिदायिनि मातः ! शिवप्रिये ! तुम्हारे शक्त्यंशसे उत्पन्न हम भारतके युवकगण तुम्हारे मन्दिरमें आसीन हैं। प्रार्थना करते हैं : सुनो मातः ! आविर्भूत होओ भारतमें, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! युग-युगमें हम मानवशरीरमें अवतीर्ण होकर जन्म-जन्ममें तुम्हारा ही कार्य कर तुम्हारे आनन्दधाममें लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म लेकर तुम्हारे ही कार्यके व्रती हम हैं। सुनो, मातः ! आविर्भूत होओ भारतमें, सहाय होओ।

मातः दुर्गे ! सिंहवाहिनि, त्रिशूलधारिणि, वर्म-आवृत-सुन्दरशरीरे, मातः जयदायिनि ! भारत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम्हारी वही मंगलमयी मूर्ति देखनेके लिए उत्सुक है। सुनो मातः ! आविर्भूत होओ भारतमें, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! बलदायिनि, प्रेमदायिनि, ज्ञानदायिनि, शक्तिस्वरूपिणि भीमे, सौम्य-रौद्ररूपिणि ! जीवन-संग्राममें, भारत-संग्राममें तुम्हारे ही प्रेरित योद्धा हम हैं। दो मातः ! प्राणमें, मनमें असुरकी शक्ति, असुरका उद्यम दो। मातः ! हृदयमें, बुद्धिमें देवताका चरित्र दो, देवताका ज्ञान दो।

मातः दुर्गे ! जगत्श्रेष्ठ भारतजाति, निविड़ तिमिरसे आच्छन्न थी। तुम गगन प्रान्तमें क्रमशः उदय हो रही हो। तुम्हारे स्वर्गीय शरीरकी तिमिरविनाशिनी आभासे ऊषाका प्रकाश हुआ है। आलोकका विस्तार करो मातः ! तिमिरका विनाश करो।

मातः दुर्गे ! श्यामला, सर्वसौन्दर्य-अलंकृता, ज्ञान-प्रेम-शक्तिका आधार भारत-भूमि तुम्हारी विभूति है। इतने दिनोंतक शक्ति-संहरणके लिए उसने आत्मगोपन किया था। आगत युग, आगत दिन, समस्त विश्वका भार स्कन्धपर लेकर भारतमाता उठ रही है। आओ, मातः ! प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! तुम्हारी सन्तान हम तुम्हारे प्रसादसे, तुम्हारे प्रभावसे महत्कार्य और महत्-भावके उपयुक्त हों। विनाश करो क्षुद्रताका, विनाश करो स्वार्थका, विनाश करो भयका।

मातः दुर्गे ! कालीरूपिणि नृमुण्डमालिनि, दिगंबरि, कृपाणपाणि, देवि असुरविनाशिनि ! क्रूर निनादसे अंतःस्थित रिपुओंका विनाश करो। एक भी हमारे भीतर जीवित न रह जाय। हम विमल-निर्मल हो जायँ। बस, यही प्रार्थना है मातः ! प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! स्वार्थ, और भय क्षुद्राशयतासे भारत म्रियमाण हो रहा है। हमें महत् बनाओ, महत्प्रयासी बनाओ, उदारचेता बनाओ, सत्संकल्प बनाओ। अव हम अल्पाशी, निश्चेष्ट, अलस और भयभीत न बने रहे।

मातः दुर्गे ! योगशक्ति विस्तारित करो। हम तुम्हारी प्रिय आर्यसन्तान हैं शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धा-भक्ति, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञानका हमारे अन्दर विकास कर जगत्को उसका वितरण करो। मानवसहाये, दुर्गतिनाशिनि जगदम्बे, ! प्रकाशित होओ।

मातः दुर्गे ! अन्तःस्थ रिपुओंका संहार कर वाहरकी विघ्न-बाधाओंको निर्मूल करो। वलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता हमारी जाति भारतके पवित्र काननों, उर्वर क्षेत्रों, गगन-सहचर पर्वततलों, नदीतटोंमें एकता और प्रेममें, सत्य और शक्तिमें, शिल्प और साहित्यमें, ज्ञान और विक्रममें श्रेष्ठ बनकर निवास करे। मातृचरणोंमें वस, यही प्रार्थना है। हे मातः ! प्रकाशित होओ।

मातः दुर्गे ! हमारे शरीरोंमें योगबलसे प्रवेश करो। हम तुम्हारा यन्त्र, अशुभविनाशी तलवार, अज्ञानविनाशी प्रदीप बनेंगे। भारतीय युवकोंकी यह कामना पूरी करो। यन्त्री वनकर यन्त्र चलाओ। अशुभ-हन्त्री बनकर तलवार घुमाओ। ज्ञानदीप्ति-प्रकाशिनी बनकर प्रदीप धरो। प्रकाशित होओ !

मातः दुर्गे ! तुम्हें पा लेनेपर अव हम विसर्जन नहीं करेंगे, श्रद्धा-भक्ति-प्रेमकी डोरसे वाँध रखेंगे। आओ मातः ! हमारे मन-प्राण-शरीरमें प्रकाशित होओ।

वीरमार्गप्रदर्शिनि, ! आओ। अव हम तुम्हारा विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा अखिल जीवन अनवच्छिन्न दुर्गापूजा हो। हमारे सभी कार्य अविरत पवित्र प्रेममय शक्तिमय मातृसेवाके व्रत वन जायँ। वस, यही है प्रार्थना—हे मातः ! प्रकट होओ, भारत देशमें, प्रकाशित होओ !

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः

वासुदेव-दर्शन एवं सनातन-धर्म

श्री अरविन्द : उत्तरपाडाका भाषण

★

जब मैं गिरफ्तार कर जल्दी-जल्दी लालबाजारको हाजतमें पहुँचाया गया तो मेरी श्रद्धा क्षणभरके लिए डिग गयी, क्योंकि उस समय मैं भगवान्की इच्छाका मर्म जान नहीं पाया था। अतएव क्षणभरके लिए विचलित हो उठा और हृदयमें भगवान्को पुकारकर कहने लगा : 'यह क्या हो गया? मेरा विश्वास था कि मुझे अपने देशवासियोंके लिए कोई विशेष काम करना है और जबतक वह पूरा नहीं हो जाता तबतक तुम मेरी रक्षा करोगे। तब मैं यहाँ क्यों हूँ? और वह भी इस प्रकारके अभियोगमें?'

एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीत गये, तब अन्दरसे एक आवाज आयी : 'ठहरो और देखो, क्या होता है!' मैं शान्त हो गया और प्रतीक्षा करने लगा।

मैं लालबाजार थानेसे अलीपुर जेलमें ले जाया गया। वहाँ मुझे एक महीनेके लिए मनुष्योंसे दूर एक निर्जन काल-कोठरीमें रखा गया। वहाँ मैं रात-दिन प्रतीक्षा करने लगा अपने अन्दर विद्यमान भगवान्की वाणीकी—यह जाननेके लिए कि वे मुझसे क्या कहना चाहते हैं, और यह सीखनेके लिए कि मुझे क्या करना होगा?

इस एकान्तवासमें मुझे सबसे पहली अनुभूति हुई, पहली शिक्षा मिली। उस समय मुझे याद आया कि गिरफ्तारीसे एक महीना या उससे भी कुछ अधिक पहले मुझे यह आदेश मिला था कि 'मैं अपने सारे कर्म छोड़कर एकान्तमें चला जाऊँ और अपने अन्दर खोज करूँ, ताकि भगवान्के साथ अधिक सम्पर्कमें आ सकूँ।' लेकिन मैं दुर्बल था और उस आदेशको स्वीकार न कर सका। मुझे अपना कार्य बहुत प्रिय था और हृदयमें इस बातका बहुत अभिमान था कि यदि मैं न रहूँ तो इस कामको धक्का पहुँचेगा। इतना ही नहीं, शायद असफल और बन्द भी हो जायगा; इसलिए मुझे काम नहीं छोड़ना चाहिए।

ऐसा बोध हुआ कि वे मुझसे फिर बोले और उन्होंने कहा : 'जिन बन्धनोंको तोड़नेकी शक्ति तुममें नहीं थी, उन्हें तुम्हारे लिए मैंने तोड़ दिया है, क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है और नहीं थी कि वे कार्य शेष रहें। तुम्हारे करनेके लिए मैंने दूसरा ही काम चुना है और उसीके लिए तुम्हें यहाँ लाया हूँ। तुम्हें वह बात सिखा दूँ, जिसे तुम स्वयं नहीं सीख सकते और फिर तुम्हें अपने कामके लिए तैयार कर लूँ।'

इसके बाद भगवान्ने मेरे हाथोंमें गीता रख दी ! मेरे अन्दर उनकी शक्ति प्रवेश कर गयी और मैं गीताकी साधना करनेमें समर्थ हुआ। मुझे केवल बुद्धिद्वारा ही नहीं, बल्कि अनुभूतिद्वारा यह जानना पड़ा कि श्रीकृष्णकी अर्जुनसे क्या माँग थी वे उन लोगोंसे क्या माँगते हैं जो उनका कार्य करनेकी इच्छा रखते हैं। अर्थात् घृणा और वासना-कामनासे मुक्त होना होगा; फलकी इच्छा न रखकर भगवान्के लिए कर्म करना होगा, अपनी इच्छाका त्याग करना होगा और निश्चेष्ट तथा सच्चा यन्त्र बनकर भगवान्के हाथोंमें रहना होगा, ऊँच और नीच, मित्र, और शत्रु, सफलता और विफलताके प्रति समदृष्टि रखनी होगी और यह सब होते हुए भी उनके कार्यकी किसी तरह अवहेलना न करनी होगी।

मैंने यह जाना कि हिन्दू-धर्मका क्या मतलब है ? बहुधा हम हिन्दू धर्म, सनातन-धर्मकी बातें करते हैं। किन्तु वास्तवमें हममेंसे कम ही लोग यह जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्यरूपसे विश्वास, व्रत, दीक्षा और मान्यताको महत्त्व देते हैं। किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन है। यह उतनी विश्वास करनेकी चीज नहीं, जितनी जीवनमें उतारनेकी चीज है। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव-जातिके कल्याणके लिए प्राचीन कालसे इस प्रायद्वीपके एकान्तवासमें होता आ रहा है। यही धर्म देनेके लिए भारत उठ रहा है।

> भारतवर्ष दूसरे देशोंकी तरह अपने लिए ही या मजबूत होकर दूसरोंको कुचलनेके लिए नहीं उठ रहा है : वह उठ रहा है सारे संसारपर वह सनातन ज्योति डालनेके लिए, जो उसे सौंपी गयी है। भारतका जीवन सदा ही मानव-जातिके लिए रहा है। उसे अपने लिए नहीं, बल्कि मानव-जातिके लिए महान् होना है।

× × ×

भगवान्ने मुझे दूसरी वस्तु दिखायी—हिन्दू-धर्मके मूल सत्यका साक्षात्कार करा दिया। उन्होंने मेरे जेलरोंके दिलको मेरी ओर मोड़ दिया। उन्होंने जेलके प्रधान अंग्रेज अधिकारीसे कहा : 'ये काल-कोठरीमें बहुत कष्ट पा रहे हैं; इन्हें कमसे कम सुबह-शाम आध-आध घण्टा कोठरीके बाहर टहलनेकी आज्ञा दे दी जाय।'

वह आज्ञा मिल गयी और जब मैं टहल रहा था, तो भगवान्की शक्तिने फिर मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने उस कारागारकी ओर दृष्टि डाली जो मुझे और लोगोंसे अलग किये हुए था। मैंने देखा, अब मैं उसकी ऊँची दीवारोंके अन्दर बन्द नहीं। मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मैं अपनी काल-कोठरीके सामने पेड़की शाखाओंके नीचे टहल रहा था। किन्तु वहाँ पेड़ न था, मुझे प्रतीत हुआ कि वे वासुदेव हैं। मैंने देखा—स्वयं श्रीकृष्ण खड़े हैं और मेरे ऊपर अपनी छाया किये हैं। मैंने अपनी काल-कोठरीके सींखचोंकी ओर देखा, उस जालीकी ओर देखा, जो दरवाजेका काम कर रही थी—वहाँ भी वासुदेव दिखाई दिये। स्वयं नारायण सन्तरी बनकर पहरा दे रहे थे। जब मैं उन मोटे कम्बलोंपर लेटा, जो मुझे पलङ्गकी जगह मिले थे, तो यह अनुभव किया कि मेरे सखा और प्रेमी श्रीकृष्ण मुझे अपनी बाहुओंमें कसे हुए हैं।

मुझे उन्होंने जो गहरी दृष्टि दी, उसका यह पहला प्रयोग था। मैंने जेलके कैदियों—चोरों, हत्यारों और बदमाशोंको देखा तो वहाँ वासुदेव दिखायी पड़े। अन्धेरेमें पड़ी उन आत्माओं और बुरी तरह काममें लाये गये शरीरोंमें मुझे नारायण मिले। उन चोरों और डाकुओंमें बहुत-से ऐसे थे, जिन्होंने अपनी सहानुभूति और दया द्वारा मुझे लज्जित कर दिया। इस विपरीत परिस्थितिमें मानवता विजयी हुई। इनमेंसे एक आदमीको मैंने विशेष रूपसे देखा, जो मुझे एक सन्त मालूम हुआ। वह हमारे देशका एक किसान था, जो पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। उसे डकैतीके अभियोगमें दस वर्षका कठोर दण्ड मिला था। वह उनमेंसे एक व्यक्ति था, जिन्हें हम वर्गके मिथ्याभिमानमें आकर 'छोटो लोक' (नीच) कहा करते हैं।

फिर एकबार भगवान् मुझसे बोले, उन्होंने कहा : 'अपना कुछ थोड़ा-सा काम करनेके लिए मैंने तुम्हें जिनके बीच भेजा है, उन्हें देखो। जिस जातिको मैं ऊपर उठा रहा हूँ, उसका स्वरूप यही है और इसी कारण मैं उसे ऊपर उठा रहा हूँ।'

× × ×

जब छोटी अदालतमें मुकदमा शुरू हुआ और हम लोग मजिस्ट्रेटके सामने खड़े किये गये तो वहाँ भी मेरी अन्तर्दृष्टि मेरे साथ थी। भगवान्ने मुझसे कहा : 'जब तुम जेलमें डाले गये थे, तो क्या तुम्हारा हृदय हताश नहीं हुआ? क्या तुमने मुझे पुकारकर यह नहीं कहा कि तुम्हारी रक्षा कहाँ है? लो, अब मजिस्ट्रेटकी ओर देखो, सरकारी वकीलकी ओर देखो।'

मैंने देखा कि अदालतकी कुर्सीपर मजिस्ट्रेट नहीं, स्वयं वासुदेव, नारायण बैठे थे। जब मैंने सरकारी वकीलकी ओर देखा तो वहाँ कोई सरकारी वकील नहीं दिखाई दिया, वहाँ तो श्रीकृष्ण बैठे थे—मेरे सखा, मेरे प्रेमी वहाँ बैठे मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा : 'अब भी डरते हो? मैं सभी मनुष्योंमें विद्यमान हूँ और उनके सभी कर्मों और शब्दोंपर राज्य करता हूँ। मेरा संरक्षण अब भी तुम्हारे साथ है तुम्हें डरना नहीं चाहिए। तुम्हारे विरुद्ध जो यह मुकदमा चलाया गया है, उसे मेरे हाथोंमें सौंप दो। यह तुम्हारे लिए नहीं है। मैं तुम्हें यहाँ मुकदमेके लिए नहीं, बल्कि किसी और कामके लिए लाया हूँ। यह तो मेरे कामका एक साधन मात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं।'

× × ×

इसके बाद जब सेशन जजकी अदालतमें विचार आरम्भ हुआ, तो मैं अपने वकीलके लिए ऐसी बहुत सी हिदायतें लिखने लगा कि गवाहीमें मेरे विरुद्ध कही गयी बातोंमें कौन-सी बातें गलत हैं और किन-किनपर गवाहोंसे जिरह की जा सकती है। तब एक ऐसी घटना घटी, जिसकी मैं आशा नहीं करता था।

मेरे मुकदमेकी पैरवीके लिए जो प्रबन्ध किया गया था, वह एकाएक बदल गया और मेरी सफाईके लिए एक दूसरे ही वकील खड़े हुए। वे अप्रत्याशित रूपसे आ गये। वे मेरे एक मित्र थे, किन्तु मैं नहीं जानता था कि वे आयेंगे।

आप सभीने उनका नाम सुना है। उन्होंने मनसे सभी विचार निकाल बाहर किये और इस मुकदमेके सिवा सारी वकालतें बन्द कर दीं। उन्होंने महीनों-महीनों लगातार आधी-आधी रात जगकर मुझे बचानेके लिए अपना स्वास्थ्य बिगाड़ लिया। वे हैं चितरञ्जनदास। जब मैंने उन्हें देखा तो मुझे सन्तोष हुआ।

फिर भी मैं समझता था कि हिदायत लिखना जरूरी है। लेकिन इसके बाद यह विचार हटा दिया गया और मेरे अन्दरसे आवाज आयी : 'यही आदमी है जो तुम्हारे पैरोंके चारों ओर फैले जालसे तुम्हें बाहर निकालेगा। तुम इन कागजोंको अलग धर दो। इन्हें तुम नहीं, मैं हिदायतें दूँगा।'

उस समयसे इस मुकदमेके सम्बन्धमें मैंने अपनी ओरसे अपने वकीलसे एक शब्द भी नहीं कहा, कोई हिदायत नहीं दी और कभी मुझसे कोई सवाल पूछा गया तो मैंने सदा यही देखा कि मेरे उत्तरसे मुकदमेको कोई मदद नहीं मिली। मैंने मुकदमा उन्हें सौंप दिया और उन्होंने पूरी तरह उसे अपने हाथोंमें ले लिया, और उसका परिणाम आप जानते ही हैं। **मैं सदा यह जानता था कि मेरे सम्बन्धमें भगवान्‌की क्या इच्छा है, क्योंकि मुझे बार बार यह वाणी सुनायी पड़ती थी। मेरे अन्दरसे सदा यह आवाज आया करती थी कि मैं रास्ता दिखा रहा हूँ, इसलिए डरो मत।**

मैं तुम्हें जिस कामके लिए जेलमें लाया हूँ, अपने उस कामकी ओर मुड़ो और जब तुम जेलसे बाहर निकलो तो यह याद रखो—कभी डरना मत, कभी हिचकिचाना मत। याद रखो—यह सब मैं कर रहा हूँ, तुम या और कोई नहीं। अतः चाहे जितने बादल घिरें, चाहे जितने खतरे और दुःख-कष्ट आयें, कठिनाइयाँ हों, चाहे जितनी असम्भावनाएँ आयें, फिर भी कुछ भी असम्भव नहीं, कुछ भी कठिन नहीं। मैं इस देश और इसके उत्थानमें हूँ। मैं वासुदेव हूँ, मैं नारायण हूँ। जो कुछ मेरी इच्छा होगी वही होगा, दूसरोंकी इच्छासे नहीं। मैं जिस चीजको लाना चाहता हूँ, उसे कोई मानव-शक्ति रोक नहीं सकती।'

× × ×

मैंने कहा : 'मुझे अपना आदेश दो, मैं नहीं जानता कि कौन-सा काम करूँ और कैसे करूँ। मुझे एक सन्देश दो।' इस योगयुक्त अवस्थामें मुझे दो सन्देश मिले। पहला यह था : 'मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस जातिके उत्थानमें सहायता देना। शीघ्र ही वह दिन आयेगा जब तुम्हें जेलके बाहर जाना होगा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि इसबार तुम्हें सजा हो या तुम अपना समय औरोंकी तरह अपने देशके लिए कष्ट सहते हुए बिताओ। मैंने तुम्हें कामके लिए बुलाया है और यही वह आदेश है, जो तुमने माँगा था। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि जाओ और काम करो।'

दूसरा सन्देश जो आया, वह इस प्रकार था : 'इस एक वर्षके एकान्तवासमें तुम्हें कुछ दिखाया गया है। वह चीज दिखायी गयी है जिसके बारेमें तुम्हें सन्देह था। वह है हिन्दू धर्मका

सत्य। इसी धर्मको मैं संसारके सामने उठा रहा हूँ। यही वह धर्म है, जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य जातियोंमें मेरा काम करनेके लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणीका प्रसार करनेके लिए इस जातिको उठा रहा हूँ। यही वह सनातन-धर्म है जिसे तुम पहले सचमुच नहीं जानते थे, किन्तु उसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अन्दर जो नास्तिकता थी, जो सन्देह था, उसका उत्तर दे दिया है। मैंने अन्दर और बाहर स्थूल, और सूक्ष्म, सभी प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें सन्तोष भी हो गया है।

'जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपनी जातिको यही वाणी सुनाना कि वह सनातन-धर्मके लिए उठ रही है। वह अपने लिए नहीं, बल्कि संसारके लिए उठ रही है। मैं उसे संसारको सेवाके लिए स्वतन्त्रता दे रहा हूँ। अतएव जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है, सनातन-धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा, तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा, तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जायगा। धर्मके लिए और धर्म द्वारा ही भारतका अस्तित्व है। धर्मकी महिमा बढ़ानेका अर्थ है, देशकी महिमा बढ़ाना!

'मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह हूँ, सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओंमें हूँ। मैं इस आन्दोलनमें हूँ। मैं केवल उन्हींके अन्दर कार्य नहीं कर रहा हूँ जो देशके लिए मेहनत कर रहे हैं, बल्कि उनके अन्दर भी, जो उसका विरोध करते और मार्गमें रोड़े अटकाते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर काम कर रहा हूँ। मनुष्य चाहे जो कुछ सोचें या करें, पर वे मेरे हेतुकी सहायता करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे भी मेरा ही काम कर रहे हैं। वे मेरे शत्रु नहीं, बल्कि मेरे यन्त्र हैं। तुम यह जाने बिना भी कि तुम किस ओर जा रहे हो, अपनी सारी क्रियाओं द्वारा आगे बढ़ रहे हो। तुम करना चाहते हो कुछ, पर कर बैठते हो कुछ और। तुम एक परिणामको लक्ष्य बनाते हो और तुम्हारे प्रयास ऐसे हो जाते हैं जो उससे भिन्न या उल्टे परिणाम लाते हैं। शक्तिका आविर्भाव हुआ है और उसने लोगोंमें प्रवेश किया है। मैं इस जमानेसे इस उत्थानकी तैयारी करता आ रहा हूँ। अब समय आ गया है। अब मैं ही इसे पूर्णताकी ओर ले जाऊँगा।'

× × ×

यही वह वाणी है, जो मुझे आपको सुनानी है। [आपकी सभाका नाम है 'धर्म-रक्षिणी सभा'] धर्मका संरक्षण—दुनियाके सामने हिन्दूधर्मका संरक्षण और उत्थान—का कार्य ही हमारे सामने है।

किन्तु हिन्दूधर्म क्या है? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन-धर्म कहते हैं? वह धर्म 'हिन्दूधर्म' इसी नाते है कि हिन्दू-जातिने इसे रखा है, क्योंकि समुद्र और हिमालयसे घिरे हुए इस प्रायद्वीपके एकान्तवासमें यह फला-फूला है, क्योंकि इस

पवित्र और प्राचीन भूमिपर इसकी युगोंतक रक्षा करनेका भार आर्यंजातिको सौंपा गया था। फिर भी यह धर्म किसी एक देशकी सीमासे घिरा नहीं है। यह संसारके किसी सीमित भागके साथ विशेष रूपसे और सदाके लिए बँधा नहीं है। जिसे हम 'हिन्दूधर्म' कहते हैं वह वास्तवमें सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्व-व्यापी धर्म है, जो दूसरे सभी धर्मोंका आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म कुछ काल तक और मर्यादित हेतुके लिए ही रह सकता है।

यही एक ऐसा धर्म है, जो अपने अन्दर विज्ञानके आविष्कारों और दर्शनशास्त्रके चिन्तनोंका पूर्वाभास देकर और उन्हें अपने अन्दर मिलाकर जड़वादपर विजय प्राप्त कर सकता है। यही एक धर्म है, जो मानव-जातिके दिलमें यह बात बैठा देता है कि भगवान् हमारे निकट हैं। यह उन सभी साधनोंको अपने अन्दर ले लेता है, जिनके द्वारा मनुष्य भगवान्‌के पास पहुँच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है, जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मोंके माने हुए इस सत्यपर जोर देता है कि भगवान् हर आदमी और हर चीजमें हैं तथा हम उन्हींमें चलते-फिरते हैं और उन्हींमें निवास करते हैं। यही एक धर्म ऐसा है, जो उसको केवल समझने और उसपर विश्वास करनेमें ही हमारा सहायक नहीं होता; बल्कि अपनी सत्ताके अंग-अंगमें उसका अनुभव करानेमें भी हमारी मदद करता है। **यही एक धर्म है, जो संसारको दिखा देता है कि संसार क्या है—वासुदेवकी लीला! यही एक धर्म ऐसा है, जो हमें बताता है कि इस लीलामें हम अपनी भूमिका अच्छीसे अच्छी तरह कैसे निभा सकते हैं। वही हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्‌से महान् विधान कौनसे हैं। यही एक ऐसा धर्म है, जो जीवनकी छोटीसे छोटी बातको भी धर्मसे अलग नहीं करता; जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्युकी वास्तविकताको हमारे अन्दरसे एकदम निकाल दिया है।**

× × ×

यही वह वाणी है, जो आपको सुनानेके लिए मेरी जबानपर रख दी गयी थी। पहले भी एकबार जब मेरे अन्दर यही शक्ति काम कर रही थी तो मैंने आपसे कहा था: 'यह आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन नहीं है। राष्ट्रियता राजनीति नहीं, बल्कि एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है। उसी बातको आज फिर मैं दोहराता हूँ; किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूपमें उपस्थित कर रहा हूँ। आज मैं यह नहीं कहता कि राष्ट्रियता एक विश्वास है, एक धर्म है, एक निष्ठा है; बल्कि मैं यह कहता हूँ कि 'सनातनधर्म ही हमारे लिए राष्ट्रियता है।' यह हिन्दू-जाति सनातन धर्मको लेकर ही पैदा हुई है, उसीको लेकर चलती है और उसीको लेकर पनपती है। जब सनातन धर्मकी हानि होती है तभी इस जातिकी भी अवनति होती है। यदि सनातन धर्मका विनाश सम्भव होता तो सनातन धर्मके साथ इस जातिका भी विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही है राष्ट्रियता। यही वह सन्देश है जो मुझे आपको सुनाता है। ●

दिव्यजन्म-एवं धर्म संस्थापन

श्री अरविन्द

हो सकता है कि भगवान्‌का अवतार किसी महान् आध्यात्मिक गुरु या त्राताके रूपमें हो, जैसे बुद्ध और ईसा; किन्तु सदैव उनकी पार्थिव अभिव्यक्तिकी समाप्तिके बाद भी उनके कर्मके फलस्वरूप मानव-जातिके केवल नैतिक जीवनमें ही नहीं, बल्कि उसके सामाजिक और बाह्य जीवन और आदर्शोंमें भी एक गम्भीर और शक्तिशाली परिवर्तन हो जाता है। दूसरी ओर हो सकता है कि वे दिव्य जीवन दिव्य व्यक्तित्व और दिव्य शक्तिके अवतार होकर आयें, अपना दिव्य कर्म करनेके लिए, जिसका उद्देश्य बाहरसे सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक ही दिखायी देता हो; जैसा कि राम और कृष्णकी कथाओंमें बताया गया है, फिर भी सदा ही यह अवतरण जातिकी आत्मामें उसके आन्तरिक जीवनके लिए और उसके आध्यात्मिक नव-जन्मके लिए एक स्थायी शक्तिका काम करता है।

यह एक अनोखो बात है कि बौद्ध और ईसाई धर्मोंका स्थायी, जीवन्त तथा विश्व-व्यापक फल यह हुआ कि जिन मनुष्यों तथा युगोंने इनके धार्मिक और आध्यात्मिक मतों, रूपों और साधनाओंका परित्याग कर दिया, उनपर भी इन धर्मोंके नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक आदर्शोंका शक्तिशाली प्रभाव पड़ा। पीछेके हिन्दुओंने बुद्ध, उनके संघ और धर्मको अमान्य कर दिया; पर बुद्ध-धर्मके सामाजिक और नैतिक प्रभावकी अमिट छाप उनपर पड़ी हुई है और हिन्दू-जातिका जीवन और आचार-विचार उससे प्रभावित है। आधुनिक यूरोप नाममात्रको ईसाई है, पर इसमें जो मानव-दयाका भाव है, वह ईसाई-धर्मके आध्यात्मिक सत्यका सामाजिक और राजनीतिक रूपान्तर है। स्वाधीनता, समता और विश्वबन्धुत्वकी यह अभीप्सा मुख्यतः उन लोगोंने की है, जिन्होंने ईसाई-धर्म और आध्यात्मिक साधनाको व्यर्थ तथा हानिकारक बतलाकर त्याग दिया था। यह काम उस युगमें हुआ, जिसने स्वतन्त्रताके बौद्धिक प्रयासमें ईसाई-धर्मको धर्म मानना छोड़ देनेकी पूरी कोशिश की।

राम और कृष्णकी जीवन-लीला ऐतिहासिक कालके पूर्वकी है, काव्य और कथाओंके रूपमें हमें प्राप्त हुई है और इसे पौराणिक विश्वास कहा जा सकता है। लेकिन पौराणिक विश्वास मानिये अथवा ऐतिहासिक तथ्य, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि उनके चरित्रोंका जो शाश्वत सत्य और महत्त्व है, वह तो इस बातमें है कि ये चरित्र जातिकी आंतरिक चेतना और मानवात्माके जीवनमें सदाके लिए एक आध्यात्मिक स्वरूप, सत्ता और प्रभावके रूपमें अमर

हो गये हैं। अवतार दिव्य जीवन और चैतन्यके तथ्य हैं। वे किसी बाह्य कर्ममें भी उतर सकते हैं, पर उस कर्मके हो चुकने और उनका कार्य पूर्ण होनेके बाद भी उस कर्मका आध्यात्मिक प्रभाव बना रहता है। अथवा वे किसी आध्यात्मिक प्रभावको प्रकट करने और किसी धार्मिक शिक्षाको देनेके लिए भी प्रकट हो सकते हैं। किन्तु उस हालतमें भी, उस नये धर्म या साधनाके क्षीण हो चुकनेपर भी मानव-जातिके विचार, उसकी मनोवृत्ति और उसके बाह्य-जीवन पर उनका स्थायी प्रभाव बना रहता है।

अतएव अवतार-कार्यके गीतोक्त वर्णनको ठीक तरहसे समझनेके लिए आवश्यक है कि हम 'धर्म'-शब्दके अत्यन्त पूर्ण, अत्यन्त गम्भीर और अत्यन्त व्यापक अर्थको ग्रहण करें। धर्मको वह आन्तर और बाह्य विधान समझें, जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानव-जातिका आध्यात्मिक विकास-साधन करते और जातिके जीवनमें उसकी विशिष्ट परिस्थितियाँ और उनके परिणाम निर्मित करते हैं। भारतीय धारणाके हिसाबसे धर्म केवल शुभ, उचित, सदाचार, न्याय और आचार-नीति ही नहीं है, बल्कि अन्य प्राणियोंके साथ प्रकृति और ईश्वरके साथ मनुष्योंके जितने भी सम्बन्ध हैं, उन सबका सम्पूर्ण नियमन है। यह नियामक तत्त्व ही वह दिव्य धर्मतत्त्व है, जो जगत्के सब रूपों और कर्मों द्वारा, आन्तर और बाह्य जीवनके विविध आकारों द्वारा तथा जगत्में जितने प्रकारके परस्पर सम्बन्ध हैं उनकी व्यवस्था द्वारा अपने-आपको सिद्ध करता रहता है।

धर्म वह है, जिसे हम धारण करते हैं (संस्कृतके 'धृ' धातुसे धर्म बनता है, जिसका अर्थ है धारण करना) और वह भी, जो हमारी सब आन्तर और बाह्य क्रियाओंको एक साथ धारण किये रहता है। 'धर्म'-शब्दका प्राथमिक अर्थ हमारी प्रकृतिका वह मूल विधान है, जो गुप्तरूपसे हमारे कर्मोंको नियत करता है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूहका अपना-अपना विशिष्ट धर्म होता है। दूसरी बात यह है कि हमारे अन्दर जो भागवत प्रकृति है, उसे भी तो हमारे अन्दर विकसित और व्यक्त होना है। इस दृष्टिसे धर्म अन्तःक्रियाओंका वह विधान है, जिसके द्वारा भागवत-प्रकृति हमारी सत्तामें विकसित होती है। फिर, एक तीसरी दृष्टिसे 'धर्म' वह विधान है, जिससे हम अपने बहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक सम्बन्धोंका नियन्त्रण करते हैं, ताकि भागवत आदर्शकी ओर उन्नत होनेमें हमारी और मानव-जातिकी अधिकसे-अधिक सहायता हो।

× × ×

गीतामें जहाँ प्रेम और भक्ति द्वारा भगवान्‌को पानेकी साधना बतलायी गयी है, वहाँ संघ और भगवद्भक्तोंके भगवत्प्रेम और भगवदनुसन्धानमें सख्य और परस्पर-साहाय्यका भाव लाया गया है। लेकिन गीताकी शिक्षाका असली संघ तो समग्र मानव-जाति है। सारा जगत् और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्येक मनुष्य इसी धर्मकी ओर जा रहा है। भगवान् कहते हैं कि 'यह मेरा ही तो मार्ग है, जिसपर सब मनुष्य चले आ रहे हैं' : **मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः** । वह भगवदन्वेषक—जो

सबके साथ एक हो जाता, सबके सुख-दुःख तथा समस्त जीवनको अपना सुख-दुःख और जीवन बना लेता है; वह मुक्त पुरुष—जो सब भूतोंके साथ एकात्मभावको प्राप्त हो चुका है, समग्र मानव-जातिके जीवनमें ही वास करता है, मानव-जातिके अखिलान्तरात्माके लिए, सर्वभूतान्तरात्मा भगवान्के लिए ही जीता है। वह लोक-संग्रहके लिए अर्थात् सबको अपने-अपने विशिष्ट धर्ममें और सार्वभौम धर्ममें स्थित रखनेके लिए, उन्हें सब अवस्थाओं और सब मार्गोंसे भगवान्की ओर ले जानेके लिए कर्म करता है। क्योंकि यद्यपि इस स्थलपर अवतार श्रीकृष्णके नाम और रूपमें प्रकट हैं, पर वे अपने मानव-जन्मके इसी एक रूपपर जोर नहीं दे रहे हैं; बल्कि उन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात कह रहे हैं जिनका यह एक रूप है, समस्त अवतार जिनके मानव-जन्म हैं और मनुष्य जिन-जिन देवताओंके नाम और रूपकी पूजा करते हैं, वे सभी उन्हींके रूप हैं।

> श्रीकृष्णने जिस मार्गका वर्णन किया है, उसके बारेमें यद्यपि यह घोषित किया गया है कि यही वह मार्ग है जिसपर चलकर मनुष्य सच्चे ज्ञान और सच्ची मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। फिर भी यह वह मार्ग है, जिसमें अन्य सब मार्ग समाये हुए हैं, उनका इसमें बहिष्कार नहीं है। भगवान् अपनी विश्व-व्यापकतामें समस्त अवतारों, समस्त शिक्षाओं और समस्त धर्मोको लिए हैं।

यह जगत् जिस संघर्षका मंच है, गीता उसके दो पहलुओंपर जोर देती है : एक आन्तरिक संघर्ष, दूसरा बाह्य युद्ध। आन्तरिक संघर्षसे शत्रुओंका दल अन्दर, व्यक्तिके अपने अन्दर है, और इसमें कामना, अज्ञान और अहंकारको मारना ही विजय है। पर मानव-समूहके अन्दर धर्म और अधर्मकी शक्तियोंके बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। भगवान्, मनुष्यकी देवोपम प्रकृति और उसे मानव-जीवनमें सिद्ध करनेका प्रयास करनेवाली शक्तियाँ धर्मकी सहायता करती हैं। उद्दण्ड अहंकार ही जिनका अग्रभाग है, ऐसी आसुरी या राक्षसी प्रकृति अहंकारके प्रतिनिधि और उसे सन्तुष्ट करनेका प्रयास करनेवालोंको साथ लेकर अधर्मकी सहायता करती है। यही देवासुर संग्राम है, जो प्रतीकरूपसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें भरा है। महाभारतके महायुद्धको, जिसमें मुख्य सूत्रधार श्रीकृष्ण हैं, प्रायः इसी देवासुर-संग्रामका एक रूपक कहा जाता है। पाण्डव, जो धर्मराज्यकी स्थापनाके लिए लड़ रहे हैं, देवपुत्र है, मानवरूपमें देवताओंकी शक्तियाँ हैं और उनके शत्रु आसुरी शक्तिके अवतार हैं, असुर हैं। इस संग्राम में भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टोंका राज्य नष्ट करने, उन्हें चलानेवाली आसुरी शक्तिका दमन करने और धर्मके पीड़ित आदर्शोंको पुनः स्थापित करनेके लिए भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत मानव-पुरुषमें स्वर्गराज्यका निर्माण करना जैसे भगवदवतारका उद्देश्य होता है, वैसे ही मानव-समष्टिके लिए भी स्वर्गराज्यको पृथ्वीके निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

भगवदवतारके होनेका आन्तरिक फल उन लोगोंको प्राप्त होता है जो भगवान्की इस क्रियासे दिव्य-जन्म और दिव्य-कर्मके वास्तविक मर्मको जान लेते और अपनी चेतनामें भगवन्मय होकर सर्वथा भगवदाश्रित रहते हैं : **मन्मया मामुपाश्रिताः** और अपने ज्ञानकी

तपःशक्तिसे पूत होकर **ज्ञानतपसा पूताः** अपरा प्रकृतिसे मुक्त होकर भगवान्‌के स्वरूप और स्वभावको प्राप्त होते हैं : **मद्भावमागताः** ।

मनुष्यके अन्दर इस अपरा प्रकृतिके ऊपर जो दिव्य प्रकृति है, उसे प्रकट करनेके लिए तथा बन्धनरहित, निरहंकार, निष्काम, निर्वैयक्तिक, विश्वव्यापक, भागवत ज्योति-शक्ति और प्रेमसे परिपूर्ण दिव्य कर्म दिखानेके लिए भगवान्‌का अवतार हुआ करता है। भगवान् आते हैं दिव्य व्यक्तित्वके रूपमें—उस व्यक्तित्वमें, जो मनुष्यकी चेतनामें बस जायगा और उसके अहंभावापन्न परिसीमित व्यक्तित्वकी जगह ले ले, जिससे मनुष्य अहंकारसे मुक्त होकर अनन्तता और विश्व-व्यापकतामें फैल जाय और जन्मके पचड़ेसे निकलकर अमर हो जाय। भगवान् भागवत शक्ति और प्रेमके रूपमें आते हैं, जो मनुष्योंको अपनी ओर बुलाते हैं, ताकि मनुष्य उन्हींका आश्रय लें और मानव-सङ्कल्प त्याग दें, अपने काम-क्रोध और भय-जनित द्वन्द्वोंसे छूट जायँ और इस महान् दुःख और अशान्तिसे मुक्त होकर भागवत शान्तिमें निवास करें। अवतार किस रूपमें, किस नामसे आयेंगे और अपने किस पहलूको सामने रखेंगे, इसका विशेष महत्त्व नहीं; क्योंकि मनुष्योंको भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनुसार जितने भी मार्ग हैं, उन सभीमें मनुष्य भगवान् द्वारा अपने लिए नियत मार्गपर चल रहे हैं, जो अन्तमें उन्हें भगवान्‌के समीप ले जायगा। भगवान्‌का वही पहलू मनुष्योंकी प्रकृतिके अनुकूल होता है, जिसका वे उस समय अच्छी तरह अनुसरण करें जब वे नेतृत्व करने आयें। मनुष्य चाहे जिस तरह भगवान्‌को अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनन्दित होते हों, भगवान् उन्हें उसी तरह अपनाते, उनसे प्रेम करते और आनन्दित होते हैं : **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** । (गीता ४.११)

—'गीता-प्रबन्धसे' ।

भागवत शक्ति

इस बातसे कुछ भी आता-जाता नहीं कि तुम्हारी प्रकृतिमें क्या-क्या दोष हैं। सबसे प्रधान बात है भागवत शक्तिकी ओर अपने आपको खोले रखना। कोई भी साधक बिना किसी सहायताके केवल अपने प्रयाससे अपना रूपान्तर नहीं कर सकता; एक मात्र भागवत शक्ति ही साधकको रूपान्तरित कर सकती है। अगर तुम अपने आपको खोले रखो तो बाकी सब कुछ तुम्हारे लिए कर दिया जायेगा।

—**श्री अरविन्द**

गीतोपदिष्ट परम रहस्य

-श्री अरविन्द

अहं और व्यक्तिगत मनके घेरेको तोड़कर उससे बाहर निकल जाना और प्रत्येक वस्तुको आत्मा और मूल-सत्ताकी विशालतामें देखना, परमेश्वरको जानना और उनके समग्र सत्यमें तथा सभी रूपोंमें उनकी पूजा करना, प्रकृति और जगत्-सत्ताके परात्पर आत्माको अपना सर्वस्व समर्पित कर देना, भगवच्चेतनाको अधिकृत करना तथा उसके द्वारा अधिकृत होना, प्रेम, आनन्द, संकल्प और ज्ञानकी विश्व-व्यापकतामें उन एकमेवाद्वितीयके साथ एकमय होना, उनके अन्दर सभी जीवोंके साथ तादात्म्य प्राप्त करना, जहाँ सब कुछ भगवान् ही हैं ऐसे जगत्की दिव्य आधारशिलापर तथा मुक्त आत्माकी दिव्य-स्थितिमें आराधना और यज्ञके रूपमें कर्म करना—यही है गीताके योगका तात्पर्य।

यह है, हमारी सत्ताके दृश्यमान सत्यसे उसके परम आध्यात्मिक और वास्तविक सत्यमें संक्रमण। भेदात्मा चेतनाकी अनेक सीमाओंको दूरकर और विषय-वासना, चंचलता एवं अज्ञानके प्रति, न्यूनतर प्रकाश और ज्ञान तथा पाप-पुण्यके प्रति, निम्नतर द्वन्द्वात्मक विधान और आदर्शके प्रति मनकी आसक्तिका परित्याग करके ही मनुष्य उस सत्यमें प्रवेश कर सकता है।

अतएव जगद्गुरु कहते हैं : 'अर्जुन, अपने-आपको सर्वात्मना मेरे प्रति अर्पित कर, अपने सचेतन मनके सभी कर्म मुझपर उत्सर्ग कर, संकल्प और बुद्धिके योगका आश्रय लेकर अपने हृदय और चेतनामें सदा मेरे साथ एक होकर रह। यदि तू सदा-सर्वदा मच्चित्त रहेगा तो मेरी कृपासे सभी कठिन और संकटपूर्ण मार्गोंको सुरक्षित रूपसे पार कर जायगा। लेकिन यदि अहंकारवश मेरी नहीं सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा। तू जो अपने अहंकारका आश्रय लेकर यह सोचता है कि 'मैं नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; प्रकृति तुझे तेरे कर्ममें बलात् नियुक्त करेगी। जो तू मोहवश नहीं करना चाहता, वही अपने स्वभावज कर्मसे बँध कर अवश होकर करेगा। हे अर्जुन, ईश्वर सर्वभूतोंके हृद्देशमें अवस्थित हैं और उन सबको निरन्तर अपनी माया द्वारा यन्त्रारूढ़की भाँति घुमा रहे हैं। तू सर्वभावसे उन्हींकी शरण ले, उनके प्रसादसे तू परा-शान्ति और शाश्वत पद प्राप्त करेगा। (गीता १८.५७–६२)

ये वे पंक्तियाँ हैं, जिनके अन्दर इस योगका अन्तरतम हार्द निहित है और जो हमें इसके सर्वोच्च अनुभव तक ले जाती हैं। इनको हमें इनकी अन्तरंग भावनामें और उस

उच्चकोटिके अनुभवकी सम्पूर्ण विशालतामें हृदयंगम करना होगा। ये शब्द ईश्वर और मनुष्यके बीच हो सकनेवाले अधिक-से-अधिक पूर्ण, घनिष्ठ और जीवंत सम्बन्धको व्यक्त करते हैं। जिन विश्वातीत और विश्वगत भगवान्से मनुष्य उत्पन्न होता है और जिनमें वह वास करता है उनके प्रति उसके अनन्य आराधन, अपनी सम्पूर्ण सत्ताके ऊर्ध्वमुख समर्पण और निःशेष एवं पूर्ण आत्मदानसे जो अन्तरीय धार्मिक भाव फूटता है, ये शब्द उसकी घनीभूत शक्तिसे ओत-प्रोत हैं।

गीताने भक्ति, ईश्वरप्रेम और 'परम'की उपासनाको श्रेष्ठतम कर्मकी अन्तरतम भावना और प्रेरणाके रूपमें तथा श्रेष्ठतम ज्ञानके मुकुट और सार मर्मके रूपमें जो उच्च और स्थायी स्थान दिया है, उसके साथ यह प्रबल धार्मिक भाव पूर्णरूपसे संगत है। यहाँ जो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं वे, और जिस आध्यात्मिक भावावेगसे वे अनुप्राणित हैं वह परमेश्वरके वैयक्तिक सत्य एवं सान्निध्यको सम्भवनीय प्रबलतम प्रमुखता और सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते प्रतीत होते हैं। दार्शनिककी अमूर्त कैवल्यात्मक सत्ताके प्रति, सब सम्बन्धोंका परित्याग करनेवाली किसी उदासीन निर्व्यक्तिक उपस्थिति या अनिर्वचनीय नीरवताके प्रति अपने सब कर्मोंका इस प्रकारका पूर्ण समर्पण नहीं किया जा सकता। अपनी सचेतन सत्ताके सभी भागोंमें उसके साथ एकत्वकी ऐसी घनिष्ठता और अन्तरंगताको अपनी पूर्णताका अनिवार्य नियम और विधान नहीं बनाया जा सकता और न ही उससे इस दिव्य सहायता, रक्षा और मुक्ति प्रदानका प्रतिज्ञापूर्ण आश्वासन प्राप्त हो सकता है। हमारे कर्मोंका प्रभु, हमारी अन्तरात्माका सखा और प्रेमी, हमारे जीवनकी अन्तरंग आत्मा, हमारी समस्त वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक सत्ता और प्रकृतिका अन्तर्वासी और ऊर्ध्ववासी अधीश्वर ही हमें यह अन्तरंग और प्रेरणाप्रद सन्देश दे सकता है।

फिर भी यह वह सामान्य सम्बन्ध नहीं है, जो धर्मों द्वारा सात्त्विक या अन्य प्रकारके अहं-मानसमें रहनेवाले मनुष्यके तथा इष्टदेवके किसी वैयक्तिक रूप एवं पक्षके बीच स्थापित किया जाता है। इष्टदेवका यह रूप भी उस मन द्वारा ही गढ़ा जाता है अथवा यह उसके सीमित आदर्श, अभीप्सा या कामनाको पूर्ण करनेके लिए उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य मानसिक मनुष्यकी धार्मिक भक्तिका साधारण आशय एवं वास्तविक स्वरूप यही होता है। किन्तु यहाँ एक अधिक व्यापक वस्तु विद्यमान है, जो मन और सीमाओं एवं उसके धर्मोंको अतिक्रमण कर जाती है। मनसे अधिक गम्भीर कोई सत्ता ही समर्पण करती है और इष्टदेवसे अधिक महान् कोई सत्ता ही उस समर्पणको ग्रहण करती है।

यहाँ जो समर्पण करता है वह है जीव, मनष्यकी मूल-अन्तरात्मा, उसकी आदि केन्द्रीय और आध्यात्मिक सत्ता तथा व्यष्टि-पुरुष। यह वह जीव है, जो सीमाकारी और अज्ञानयुक्त अहंभावनासे विमुक्त है; जो अपनेको पृथक् व्यक्तित्वके रूपमें नहीं, बल्कि भगवान्के **सनातन अंश**, उनकी शक्ति तथा जीव-संभूतिके रूपमें जानता है; जो अज्ञानके विलुप्त होनेके कारण युक्त एवं उन्नीत है और सनातनकी प्रकृतिके साथ एकीभूत अपनी सच्ची और परा प्रकृतिकी ज्योति और मुक्तिमें प्रतिष्ठित है। हमारे अन्दरकी यह केन्द्रीय अध्यात्म-सत्ता ही इस प्रकार हमारे जीवनके उद्गम और आधार तथा उसके नियामक आत्मा और शक्तिके साथ आनन्द

और मिलनका पूर्ण एवं घनिष्ठतर वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करती है। जो हमारे समर्पणको ग्रहण करता है, वह कोई सीमित देवता नहीं; वरन् पुरुषोत्तम है, एकमेव सनातन परमेश्वर है। जो कुछ भी यहाँ है, उन सबका तथा समस्त प्रकृतिका एकमेव परम आत्मा, जगत्की आदि और परात्पर अध्यात्मसत्ता वही है। हमारे निर्मुक्त ज्ञानके अनुभवके प्रति उसका प्रथम, स्पष्ट, आध्यात्मिक आत्म-प्राकट्य एक-अक्षर निर्व्यक्तिक स्वयंभू-सत्ताके रूपमें ही होता है। वही सत्ता उसकी उपस्थितिका प्रथम चिह्न, उसके सारतत्त्वका प्रथम स्पर्श और छाप होती है। एक विश्वव्यापी और विश्वातीत अनन्त 'व्यक्ति' या पुरुष उसकी वास्तविक सत्ताका गुप्त और गहन रहस्य है। वह किसी मानसिक रूपमें चिंत्य नहीं है, **अचिंत्यरूप** है। किन्तु जब हमारी चेतनाकी शक्तियाँ—भावावेग, संकल्प और ज्ञान—अपने-आपको, अपने अंध और क्षुद्र रूपोंको अतिक्रमकर ज्योतिर्मय, आध्यात्मिक और अपरिमेय अतिमानसिक आनन्द, शक्ति और विज्ञानमें उन्नीत हो जाती हैं तब उनके लिए वह रहस्य अत्यन्त निकट एवं प्रत्यक्ष हो जाता है। जो अनिर्वचनीय ब्रह्म है और साथ ही सुहृद्, ईश्वर, प्रकाशदाता और प्रेमी भी है, वही इस पूर्णतम भक्ति और शरणागतिका—इस अत्यन्त घनिष्ठ आंतरिक सम्भूति और समर्पणका पात्र है।

यह मिलन, यह सम्बन्ध एक ऐसी चीज है जो सीमाकारी मनके रूपों और नियमोंसे ऊपर उठी हुई है; इन सब निम्न धर्मोंकी पहुँचसे बहुत ऊपर है। वह हमारी आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका सत्य है। फिर भी या वास्तवमें इसी कारण (क्योंकि यह हमारी आत्मा और अध्यात्म-सत्ताका सत्य है) जिस परमात्मासे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा और जिसके विकारों एवं आभासोंके रूपमें सब कुछ अस्तित्व रखता है तथा आयास और प्रयास करता है, उसके साथ इसके एकत्वका सत्य है। अतः यह उन सबका निषेध नहीं, बल्कि परिपूर्ति है, जिसकी ओर मन और प्राण संकेत करते हैं और जिसे वे अपने गुप्त और असंसिद्ध अर्थके रूपमें अपने अन्दर धारण करते हैं। इस प्रकार यहाँ हम जो कुछ भी हैं, उस सबके निर्वाण, विवर्जन तथा निराकरण द्वारा नहीं, बल्कि अज्ञान और अहंभावके निर्वाण, विवर्जन तथा निराकरण द्वारा और उसके फलस्वरूप हमारे ज्ञान, संकल्प और हृद्गत अभीप्साकी अकथ परिपूर्णता द्वारा, भगवान् एवं सनातनके अन्दर उदात्त और असीम रूपसे उन सबके निवास द्वारा, **निवसिष्यसि मय्येव**, हमारी समस्त चेतनाकी एक महत्तर आन्तरिक स्थितिमें रूपान्तर और प्रतिष्ठापन द्वारा ही यह परम सिद्धि और आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त होती है। ●

श्रीकृष्ण हँसते हैं

तू नकली चेहरेसे क्यों ठिठकता है? उसकी घृणित भौंड़ी और भयावनी प्रतीतियोंके पीछे श्रीकृष्ण तेरे मूर्खताभरे क्रोधपर हँसते हैं, उससे भी अधिक मूर्ख तिरस्कार अथवा घृणापर और सबसे अधिक तेरे मूर्ख भयपर हँसते हैं।

—श्री अरविन्द

अवतारका हेतु :
मानव-प्रकृतिका भागवत-प्रकृतिमें रूपान्तरण

श्री अरविन्द

★

जिस योगमें कर्म और ज्ञान एक हो जाते हैं, कर्मयज्ञ-योग और ज्ञान-योग एक हो जाते हैं, जिस योगमें कर्मकी परिपूर्णता ज्ञानमें होती है और ज्ञान कर्मका पोषण करता, उसका रूप बदल देता और उसे आलोकित कर देता है तथा फिर ज्ञान और कर्म दोनों ही उन परम भगवान् पुरुषोत्तमको समर्पित किये जाते हैं—जो हमारे अन्दर नारायण-रूपसे सदा हमारे हृदयमें गुप्तभावसे विराजमान हैं, जो मानव-आकारमें भी अवताररूपसे प्रकट होते हैं और दिव्य-जन्म ग्रहणकर हमारी मानवताको अपने अधिकारमें ले लेते हैं—उस योगका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण बात-बातमें यह कह गये कि 'यही वह सनातन आदियोग है जो मैंने सूर्यदेव विवस्वान्को प्रदान किया और विवस्वान्ने मनुष्यके जनक मनुको और मनुने सूर्यवंशके आदिपुरुष इक्ष्वाकुको दिया; इस प्रकार यह योग एक राजर्षिसे दूसरे राजर्षिको मिलता रहा और इसकी परम्परा चलती रही; फिर कालकी गतिमें यह खो गया।' भगवान् अर्जुनसे कहते हैं : 'आज वही योग मैं तुझे दे रहा हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रेमी, भक्त, सखा और साथी है।' भगवान्ने इस योगको 'परम-रहस्य' कहकर इसे अन्य सब योगोंसे श्रेष्ठ बताया, क्योंकि अन्य योग या तो निर्गुण ब्रह्म या सगुण-साकार इष्टदेवको ही प्राप्त करानेवाले होते हैं। वे या तो निष्कर्मज्ञानस्वरूप मोक्ष या आनन्दनिमग्न मुक्तिके ही दिलानेवाले हैं। किन्तु यह योग परम रहस्य और सम्पूर्ण रहस्यको खोलकर दिखानेवाला, दिव्य शक्ति और दिव्य कर्मको प्राप्त करानेयाला तथा पूर्ण स्वतंत्रतासे युक्त दिव्य ज्ञान, कर्म और परमानन्दको देनेवाला है। जैसे भगवान्की परम सत्ता अपनी व्यक्त-सत्ताकी सभी परस्पर-विभिन्न और विरोधी शक्तियों एवं तत्त्वोंका समन्वय कर उन्हें अपने अन्दर एक कर लेती है, वैसे ही इस योगमें भी सब योगमार्ग मिलकर एक हो जाते हैं। इसलिए गीताका यह योग केवल कर्मयोग नहीं, जैसा कि कुछ लोगोंका आग्रह है और जो इसे तीन मार्गोंमेंसे सबसे कनिष्ठ मार्ग बतलाते हैं। बल्कि यह परम योग है, पूर्ण समन्वयात्मक और अखंड है। इसमें जीवके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी सारी शक्तियाँ भगवन्मुखी की जाती हैं।

इस योगको विवस्वान् आदिको दिये जानेकी बात अर्जुनने अत्यन्त स्थूल अर्थमें ग्रहण की (इस बातको दूसरे अर्थमें भी लिया जा सकता है) और पूछा। 'सूर्यदेव तो जीव-सृष्टिमें अग्रजन्माओंमें एक हैं, वे सूर्यवंशके आदिपुरुष हैं। उन्होंने मनुष्यरूप आप श्रीकृष्णसे, जो अभी-अभी जगत्में उत्पन्न हुए हैं, यह योग कैसे ग्रहण किया ?' इस प्रश्नका उत्तर श्रीकृष्ण यह दे सकते थे कि 'सम्पूर्ण ज्ञानके मूलस्वरूप जो भगवान् हैं, उस भगवद्रूपसे मैंने यह उपदेश उन सविताको किया, जो भगवान्के ही ज्ञानके व्यक्त रूप हैं और जो समस्त अन्तर्बाह्य द्विविध

प्रकाशोंके देनेवाले हैं : **भर्गः सवितुर्देवस्य यो नो धियः प्रचोदयात्।** किन्तु उन्होंने यह उत्तर नहीं दिया। उन्होंने इस प्रश्नके प्रसंगसे अपने छिपे हुए ईश्वर-रूपकी वह बात कही, जिसकी भूमिका वे तभी बाँध चुके थे, जब उन्होंने कर्म करते हुए भी कर्मोंसे न बँधनेके प्रसंगमें अपना दिव्य दृष्टांत सामने रखा था। फिर भी वहाँ उन्होंने इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट नहीं किया था। अब वे अपने-आपको स्पष्ट शब्दोंमें 'अवतार' घोषित करते हैं।

भगवान् गुरुकी चर्चाके प्रसंगमें वेदान्तकी दृष्टिसे अवतार-तत्त्वका प्रतिपादन संक्षेपमें किया जा चुका है। गीता भी इस तत्त्वको वेदान्तकी ही दृष्टिसे हमारे सामने रखती है। अब हम इस तत्त्वको जरा और अन्दर बैठकर देखें और उस दिव्य-जन्मके वास्तविक अभिप्रायको समझें, जिसके बाह्य रूपको ही 'अवतार' कहते हैं; क्योंकि गीताकी शिक्षामें यह चीज एक ऐसी कड़ी है जिसके बिना इस शिक्षाकी शृंखला पूरी नहीं होती। सबसे पहले हम श्री गुरुके उन शब्दोंका अनुवाद करके देखें, जिनमें अवतारके स्वरूप और हेतुका संक्षेपमें वर्णन किया गया है और उन श्लोकोंको या वचनोंपर भी ध्यान दें जो उससे सम्बन्ध रखते हैं :

'अर्जुन, मेरे और तेरे बहुतसे जन्म बीत चुके; मैं उन सबको जानता हूँ, पर तू नहीं। परंतप, मैं अपनी सत्तासे यद्यपि अज और अविनाशी हूँ, सब भूतोंका स्वामी हूँ, तो भी अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर आत्म-मायासे जन्म लिया करता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूँ। साधु पुरुषोंको उबारने और पापात्माओंको नष्ट करने तथा धर्मकी संस्थापना करनेके लिए मैं युग-युगमें जन्म लिया करता हूँ। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो कोई तत्त्वतः जानता है, वह इस शरीरको छोड़नेपर पुनर्जन्म नहीं, बल्कि हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोधसे मुक्त, मेरे ही भावमें लीन, मेरा ही आश्रय लेनेवाले, ज्ञान-तपसे पुनीत अनेक पुरुष मेरे भावको (पुरुषोत्तम-भावको) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूँ (**भजामि**)। पार्थ, सब मनुष्य सब तरहसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।' (गीता, अ० ४ : ५–११)

गीता अपना कथन जारी रखते हुए बतलाती है कि बहुत-से मनुष्य अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए देवताओंके अर्थात् एक परमेश्वरके विविध रूपों और व्यक्तियोंके प्रीत्यर्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे—ज्ञानरहित कर्मोंसे—होनेवाली सिद्धि मानव-जगत्में सुगमतासे प्राप्त होती है; वह केवल उसी जगत्की होती है। किन्तु दूसरी सिद्धि अर्थात् पुरुषोत्तमके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले ज्ञानयुक्त यज्ञ द्वारा मनुष्यकी दिव्य आत्मपरिपूर्णता उसकी अपेक्षा अधिक कठिनतासे प्राप्त होती है। इस यज्ञके फल सत्ताकी उच्चतर भूमिकाके होते हैं और जल्दी पकड़में नहीं आते। इसलिए मनुष्योंको अपने गुण-कर्मके अनुसार चतुर्विध धर्मका पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्मके इस क्षेत्रमें वे भगवान्‌को उनके विविध गुणोंमें ही ढूँढ़ते हैं। किन्तु भगवान् कहते हैं कि 'यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मोंका कर्ता और चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूँ, तो भी मुझे अकर्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा भी जानना चाहिए। 'कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलकी मुझे कोई स्पृहा होती है।' कारण भगवान् निर्वैयक्तिक

हैं और इस अहंभावापन्न व्यक्तित्व तथा प्रकृतिके गुणोंके इस द्वन्द्वके परे हैं और अपने पुरुषोत्तम-स्वरूपमें भी, जो उनका निर्वैयक्तिक पुरुषभाव है, वे कर्मके अन्दर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतन्त्रतापर अधिकार रखते हैं। इसलिए दिव्य कर्मोंके कर्ताको चातुर्वर्ण्यका पालन करते हुए भी उसीको जानना और उसीमें रहना होता है जो परे है, जो निर्वैयक्तिक है और फलतः परमेश्वर है। भगवान् कहते हैं : 'इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह अपने कर्मोंसे नहीं बँधता। यही जानकर मुमुक्षु लोगोंने पुराकालमें कर्म किया; इसलिए तू भी उसी पूर्वतर प्रकारके कर्म कर, जैसे पूर्वपुरुषोंने किये थे।' (गीता, अ० ४ : १२-१५)

जिन श्लोकोंका अनुवाद ऊपर दिया गया है, उनमेंसे पीछेके श्लोक, जिनका सारांश-मात्र दिया गया है, 'दिव्य कर्म'का स्वरूप बतलानेवाले हैं। उनका निरूपण हम पिछले अध्यायमें कर चुके हैं। उनमेंसे पहलेके श्लोक, जिनका सम्पूर्ण अनुवाद किया गया है, दिव्य-जन्म' अर्थात् अवतार-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले हैं।

यहाँ हमें एक बात बड़ी सावधानीसे समझनी होगी कि अवतारका आनाकेवल धर्मका संस्थापन करनेके लिए ही नहीं होता। क्योंकि धर्मस्थापन स्वयं कोई इतना बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है, कोई ऐसा महान् लक्ष्य नहीं है जिसके लिए ईसा या कृष्ण या बुद्धको उतरकर आना पड़े। धर्म-संस्थापन तो किसी और भी महान्, परतर और भागवत-संकल्पसिद्धिकी एक सामान्य अवस्थामात्र हैं। कारण दिव्य-जन्मके दो पहलू हैं : एक है अवतरण—मानव-जातिमें भगवान्का जन्मग्रहण, मानव-आकृति और प्रकृतिमें भगवान्का प्राकट्य; यही सनातन अवतार है। दूसरा है आरोहण - भगवान्के भावमें मनुष्यका जन्म-ग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्यमें उसका उत्थान **मद्भावमागताः**। यह जीवका नव-जन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान्का अवतार लेना और धर्मका संस्थापन करना इसी नव-जन्मके लिए होता है।

अवतारविषयक गीता-सिद्धान्तके इस द्विविध पहलूकी ओर उन लोगोंका ध्यान नहीं जाता, जो गीताको सरसरी तौरपर पढ़ जाते हैं। अधिकांश पाठक ऐसे ही होते हैं, जो इस ग्रन्थकी गम्भीर शिक्षाकी ओर न जाकर उसके ऊपरी अर्थसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे भाष्यकार भी, जो अपनी साम्प्रदायिक चहारदीवारीके अन्दर बन्द रहते हैं, इसको नहीं देख पाते। इसलिए अवतारतत्त्व-सम्बन्धी गीताका जो सिद्धान्त है उसके सम्पूर्ण अर्थको समझ लेनेके लिए अवतारके इस द्विविध पहलूको जान लेना आवश्यक है। इसके बिना अवतारकी भावना एक मतविशेषमात्र, एक प्रचलित मूढ़-विश्वासभर रह जायगी। अथवा यह हो जायगा कि ऐतिहासिक या पौराणिक अतिमानवोंको कल्पनाके जोरसे या रहस्यमय तरीकेसे भगवान् बना दिया जायगा। फिर यह भावना वह नहीं रह जायगी जो गीताकी शिक्षा है, जो गम्भीर दार्शनिक और धार्मिक सत्य है और जो **उत्तमं रहस्यं** को प्राप्त करानेका एक आवश्यक अङ्ग या पदक्षेप है।

यदि परमेश्वर-सत्तामें मनुष्यके आरोहणकी सहायता करना मनुष्यरूपमें परमेश्वरके अवतीर्ण होनेका प्रकृत हेतु न हो, तो धर्मके लिए भगवान्का अवतार लेना एक निरर्थक-सा व्यापार प्रतीत होगा। कारण धर्म, न्याय और सदाचारकी रक्षाका कार्य तो भगवान्की

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

अगस्त : १९७२ ई०

दिनांक	वार	व्रत-पर्व
१४	सोमवार	नागपंचमी।
१५	मंगलवार	स्वतंत्रता-दिवस, श्री अरविन्द-जयन्ती।
१६	बुधवार	तुलसी-जयन्ती
२०	रविवार	पुत्रदा एकादशी व्रत।
२२	मंगलवार	भौम-प्रदोष-व्रत।
२३	बुधवार	श्रावणी, ऋग्वेदियोंके लिए।
२४	गुरुवार	„ यजुर्वेदी आदिके लिए, रक्षाबन्धन।
२७	रविवार	बहुला संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत।
३१	गुरुवार	श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, स्मार्तोंके लिए।

सितम्बर : १९७२ ई०

दिनांक	वार	व्रत-पर्व
१	शुक्रवार	श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, वैष्णवोंके लिए।
३	रविवार	जया एकादशी, स्मार्तोंके लिए।
४	सोमवार	„ „ वैष्णवोंके लिए।
५	मंगलवार	भौम प्रदोष, मासशिवरात्रि व्रत।
७	गुरुवार	कुशोत्पाटिनी अमावास्या।

सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनों द्वारा अर्थात् महापुरुषों और महान् आन्दोलनों द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्यों द्वारा सदा कर ही सकती है। उसके लिए अवतारकी कोई प्रकृत आवश्यकता नहीं। अवतारका आगमन मानव-प्रकृतिमें भागवत प्रकृतिको प्रकटानेके लिए होआ है—ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भगवत्ताको प्रकटानेके लिए जिससे मानव-प्रकृति—अपने सिद्धान्त, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ताको ईसा, कृष्ण और बुद्धके सांचेमें ढालकर—स्वयं भागवत प्रकृतिमें रूपान्तरित हो जाय। अवतार जो धर्म संस्थापित करते हैं, उसका मुख्य हेतु भी यही होता है। ईसा, बुद्ध, कृष्ण इस धर्मके तोरण-द्वार बनकर स्थित होते हैं और अपने अन्दरसे होकर ही वह मार्ग निर्माण करते हैं, जिसका अनुवर्तन करना मनुष्योंका धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्योंके सामने अपना ही दृष्टान्त रखते और अपने-आपको ही एकमात्र मार्ग और तोरण-द्वार घोषित करते हैं; अपनी मानवताको ईश्वरकी सत्ताके साथ एक बतलाते हैं। वे यह भी प्रकट करते हैं कि मैं, जो मानव-पुत्र हूं और जिस ऊर्ध्वस्थित पितासे अवतरित हुआ हूं वह—दोनों एक ही हैं। मनुष्य-शरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे **मानुषीं तनुमाश्रितम्** और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृद जो श्रीकृष्ण हैं वे—दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं। वहां वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, तो यहां मानव-आकारमें प्रकट हैं।

—'गीता-प्रबन्ध'से।

श्रीकृष्णसे भेंट !

जब मेरी श्रीकृष्णसे पहली भेंट हुई तो मैंने उन्हें एक मित्र और सखाके रूपमें तबतक प्यार किया, जबतक कि उन्होंने मुझे धोखा नहीं दिया। उसके पश्चात् मैं उनसे रुष्ट हो गया और उन्हें क्षमा नहीं कर सका। फिर मैंने प्रेमी बनकर उन्हें प्यार किया और उन्होंने फिर मुझे धोखा दिया। मैं फिरसे अधिक रुष्ट हो गया, किन्तु इसबार मुझे क्षमा करना पड़ा।

मुझे खिजानेके पश्चात् उन्होंने मुझे क्षमा करनेके लिए बाध्य कर दिया; प्रायश्चित्त करके नहीं, बल्कि अधिकाधिक खिजा-खिजाकर।

जबतक भगवान् मेरे प्रति किये अपराधोंको सुधारनेकी चेष्टा करते रहे तबतक हमलोग समय-समयपर झगड़ते रहे। किन्तु जब उन्हें अपनी भूलका पता लग गया, झगड़ा बन्द हो गया, क्योंकि मुझे उनके प्रति पूरी तरह समर्पित हो जाना पड़ा।

—श्री अरविन्द

राधाकी प्रार्थना !

हे स्वामिन् ! जिसे मैंने प्रथम दृष्टिमें ही अपनी सत्ताका प्रभु, अपना भगवान् समझ लिया था, वह तू मेरा यह नैवेद्य स्वीकार कर।

तेरे ही हैं समस्त विचार मेरे, मेरे ही समस्त भावातिरेक हैं तेरे ! मेरी समस्त संवेदनाएँ, मेरे जीवनकी समस्त गतियाँ, मेरे शरीरका प्रत्येक कोषाणु, मेरे रक्तकी प्रत्येक बूँद—सब कुछ तेरा है। मैं पूर्णरूपसे तेरी हूँ, सर्वथा तेरी, और निःशेष रूपसे तेरी ही हूँ। तू मुझे जो चाहेगा, वही बन जाऊँगी। मेरेलिए तू जीवन चुने अथवा मृत्यु, हर्ष अथवा शोक, सुख अथवा दुःख, जो भी कुछ तुझसे मुझे मिलेगा, सबका मैं स्वागत करूँगी। तेरा प्रत्येक उपहार मेरेलिए सर्वथा दिव्य उपहार होगा, वह अपने साथ परम आनन्द लायेगा।

—श्री माँ

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, डुमराँव बाग, वाराणसी—१ में मुद्रित एवं प्रकाशित